डा० पारसनाथ द्विवेदी

छन्दोऽलोक

ओ३म्

भा० पु० ना०

ध्व न्या लो क

आलोचनात्मक अध्ययन

अनुक्रमणिका

प्रथम भाग

आलोचना

पृष्ठ

द्वितीय भाग

व्याख्या

तृतीय भाग

अलंकारशास्त्र के प्रमुख आचार्य और उनकी रचनाएँ

ध्वन्यालोक

प्रश्न १—संस्कृत-साहित्य में काव्यशास्त्र के उद्‌गम व विकास पर एक निबन्ध लिखिए।

संस्कृत-साहित्य में काव्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस शास्त्र का उद्‌गम कब और कहाँ हुआ, इसका यथार्थ विवरण नहीं दिया जा सकता। किन्तु अति प्राचीनकाल से ही इसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता आ रहा है। काव्यशास्त्र की प्रथम उद्‌भावना भारत में संस्कृत-साहित्य में हुई है। काव्यशास्त्र के आरम्भ का पता नहीं चलता कि कौन-सा ग्रन्थ पहले लिखा गया और उसका समय क्या था ? राजशेखर के मतानुसार काव्यशास्त्र का उदय ईश्वर से हुआ है। भगवान श्रीकंठ शिव ने काव्यशास्त्र का प्रथम उपदेश ब्रह्मा आदि शिष्यों को दिया था और ब्रह्मा ने अपने मानस-पुत्रों को पढ़ाया। उनमें सरस्वती का पुत्र 'काव्यपुरुष' भी एक था। इसी काव्यपुरुष ने तीनों लोकों में काव्यशास्त्र का प्रसार किया। किन्तु जिस प्रकार समस्त विद्याओं का मूल-स्रोत वेद माना जाता है, उसी प्रकार काव्यशास्त्र का भी मूलस्रोत वेद है। यद्यपि वेदों में काव्यशास्त्र का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में उपमा, रूपक आदि अलंकारों के अनेक उदाहरण मिलते हैं; जैसे—

जायेव पत्ये उशती सुवासा।

(ऋग्वेद १।१२४।७)

सक्तु मिव तितउना पुनन्तो।

(ऋग्वेद १०।७१।२)

ऋग्वेदकालीन ऋषियों ने केवल उपमा आदि अलङ्कारों का ही प्रयोग नहीं किया है, बल्कि काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों से भी वे परिचित थे। यद्यपि काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त का कोई ग्रन्थ नहीं था; फिर भी काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के मूल बीज वहाँ निहित थे। इस प्रकार वैदिककाल से ही काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर विचार प्रारम्भ हो गया था और आज तक उत्तरोत्तर विकास होता आ रहा है। रचना की दृष्टि से इस दीर्घकाल को सीमा को पाँच कालों में विभाजित करना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है—

१—प्रारम्भिक निर्माण युग (प्रारम्भ से भरत तक)
२—अन्वेषण एवं रचना युग (भरत से आनन्दवर्धन तक)
३—काव्यतत्त्व चिन्तन युग (आनन्द से मम्मट तक)
४—समन्वय युग या व्याख्याकाल (मम्मट से जगन्नाथ तक)
५—आधुनिक युग (जगन्नाथ के पश्चात्)

१. प्रारम्भिक निर्माण युग

द्वितीय शताब्दी के रुद्रादामन शिलालेख एवं अन्य शिलालेखों से ज्ञात होता है कि ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पहले काव्यशास्त्र पूर्ण विकसित हो चुका था। यास्क के निरुक्त से ज्ञात होता है कि उनके पूर्ववर्त्ती आचार्य गार्ग्य ने उपमा की परिभाषा प्रस्तुत की है। उन्होंने उपमा का लक्षण इस प्रकार दिया है—'उपमा यत् अतत् तत् सदृशमिति गार्ग्यः'। अर्थात् जहाँ एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होते हुए भी उसके समान हो, उसे 'उपमा' कहते हैं। यास्क ने उपमा के पूर्णा और लुप्ता इन दो भेदों का निरूपण किया है और इव, यथा, न आदि उपमावाचक शब्दों का निर्देश भी किया है। पाणिनि ने उपमा के चारों अङ्ग—उपमान, उपमेय (उपमित), साधारणधर्म और सादृश्य वाचक शब्द (इव, तुल्य) का स्पष्ट निर्देश किया है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में उपमान शब्द की व्याख्या की है। इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि इस युग में काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ रहे होंगे, जो आज अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रन्थों में भरत का 'नाट्यशास्त्र' है भरत इस युग के अन्तिम आचार्य हैं। उन्होंने नाट्यशास्त्र में चार अलंकार, दस गुण और दस दोषों का निरूपण किया है।

२. अन्वेषण एवं रचना युग

भरत से लेकर आनन्दवर्धन तक का यह युग अन्वेषण एवं रचना का युग कहा जाता है। इस युग में लगभग एक सहस्र वर्ष के भीतर काव्यशास्त्र के विभिन्न अवयवों पर अन्वेषण एवं रचनाएँ हुई हैं। भरत के पश्चात् काव्य शास्त्र का विकास-क्रम अग्निपुराण में दिखाई देता है। अग्निपुराण में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन है। इसमें काव्य के स्वरूप रस, अलंकार, गुण, दोष आदि विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है। इस प्रकार अग्निपुराण को ही इस युग का प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ मानना चाहिए।

अग्निपुराण के पश्चात् आचार्य भामह ने काव्यशास्त्र का विवेचन किया है। इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार' है। इसमें काव्य की प्रशंसा, काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, काव्य-दोष निरूपण के साथ-साथ अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया गया है। भामह अलङ्कार-सम्प्रदाय के प्रमुख प्रतिनिधि आचार्य कहे जाते हैं। काव्यशास्त्र के इतिहास में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। भामह के पश्चात् **दण्डी** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके ग्रन्थ का नाम **'काव्यादर्श'** है। इसमें काव्य का लक्षण, काव्य के भेद, रीति, गुण एवं अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया गया है। दण्डी अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य हैं।

भामह और दण्डी के पश्चात् अलंकार-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य **भट्टोद्भट** (८००ई०) हैं। इनके ग्रन्थ का नाम **'काव्यालंकार-सार-संग्रह'** है। इसमें उन्होंने मुख्यतः अलंकारों का विवेचन किया है। विकास-क्रम में इसमें छह अलंकारों का अधिक विवेचन किया गया है उद्भट के पश्चात् अलंकार-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य **रुद्रट** हैं। इनका ग्रन्थ **'काव्यालंकार'** के नाम से प्रसिद्ध है। इनके ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के सभी अङ्गों पर विचार किया गया है। फिर भी इसमें अलंकारों का विवेचन प्रमुख है।

इस युग के आचार्यों में **वामन** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके ग्रन्थ का नाम **'काव्यालंकार-सूत्र'** है। इसमें काव्य लक्षण, काव्यभेद, काव्यदोष, गुण तथा अलंकारों का विवेचन किया गया है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार कर एक नए सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया है जो **'रीतिसम्प्रदाय'** के नाम प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने गुण और अलंकारों में भिन्नता का प्रतिपादन किया है। इस युग के अन्तिम आचार्य **आनन्दवर्धन** हैं। उनका ग्रन्थ **'ध्वन्यालोक'** के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर **'ध्वनि-सम्प्रदाय'** का प्रवर्तन किया है। ये ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्तक कहे जाते हैं।

रचना की दृष्टि से यह युग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस युग में काव्यशास्त्र के विविध अङ्गों के विवेचन के साथ-साथ अनेक नए सम्प्रदाय स्थापित हुए हैं। रससम्प्रदाय, अलंकारसम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय, ध्वनिसम्प्रदाय आदि इसी युग की देन हैं। रस-सिद्धान्त के प्रमुख व्याख्याकारों का उदय इसी युग में हुआ है। काव्यशास्त्र के इतिहास में यह युग स्वर्णयुग के नाम से कहे जाने के योग्य है।

३. काव्यतत्त्वचिन्तन युग

आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट तक का काल 'काव्यतत्त्व-चिन्तन-युग' कहा जाता है। आनन्दवर्धन ने जिस ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की है वह इसी युग से पुष्पित एवं पल्लवित हुआ है। आनन्दवर्धन के पश्चात् ध्वनि-सिद्धान्त के पोषक आचार्य **अभिनवगुप्त** हैं। इन्होंने 'ध्वन्यालोक' पर '**ध्वनिलोक-लोचन**' और भरत के नाट्यशास्त्र पर '**अभिनवभारती**' टीका लिखी है। यद्यपि ये दोनों टीकाग्रन्थ हैं तथापि काव्यशास्त्र के इतिहास में इनकी प्रतिष्ठा किसी मौलिक ग्रन्थ से कम नहीं है। अभिनवगुप्त शैवदर्शन के आचार्य थे। रस के सम्बन्ध में ये अभिव्यञ्जनावादी हैं।

इस युग में ध्वनि सिद्धान्त का प्रबल विरोध भी हुआ है। ध्वनि-विरोधी आचार्यों में **कुन्तक** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके ग्रन्थ का नाम '**वक्रोक्ति-जीवितम्**' है। कुन्तक ने ध्वनि-सिद्धान्त का समर्थन न कर, वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना की है। उन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त को अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त में समाविष्ट कर दिया है। उनका यह सिद्धान्त '**वक्रोक्ति-सम्प्रदाय**' के नाम से प्रसिद्ध है। कुन्तक के पश्चात् ध्वनि-विरोधी अचार्यों में **महिमभट्ट** का नाम आता है इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन कर 'अनुमितिवाद' की स्थापना की है और ध्वनि का अन्तर्भाव 'अनुमान' में कर दिया। इनके ग्रन्थ का नाम '**व्यक्ति-विवेक**' है ध्वनि-विरोधी अचार्यों में **धनञ्जय** का भी नाम आता है। इन्होंने नाट्यशास्त्र पर '**दशरूपक**' नामक ग्रन्थ लिखा है।

इस युग के अचार्यों में '**क्षेमेन्द्र**' का स्थान अद्वितीय है। काव्यशास्त्र-विषयक इनके दो ग्रन्थ 'औचित्य-विचार-चर्चा' तथा 'कवि-कण्ठाभरण' उपलब्ध हैं। इन्होंने 'औचित्य को रस का प्राणतत्त्व बताया है क्षेमेन्द्र ने '**औचित्य-सम्प्रदाय**' की स्थापन की। क्षेमेन्द्र के पश्चात् **भोजराज** का नाम आता है। भोजराज विद्वानों के आश्रयदाता तथा दानशील नरेश के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। काव्यशास्त्र के इतिहास में भी इनकी कम ख्याति नहीं है। काव्यशास्त्र में 'सरस्वती-कण्ठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश' ये दो ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होंने सरस्वती-कण्ठाभरण में काव्य के विविध अङ्गों (गुण, दोष, रीति, अलङ्कार आदि) पर विचार किया है। 'शृंगारप्रकाश' में इन्होंने केवल रस पर ही विचार किया है और शृंगार को 'रसराज' कहा है।

इस युग के अन्तिम आचार्य मम्मट हैं। इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यप्रकाश' है। ये ध्वनि-सिद्धांत के प्रबल समर्थक हैं।

४. समन्वय या व्याख्याकाल

आचार्य मम्मट से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक का समय समन्वययुग या व्याख्याकाल के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य मम्मट ने प्रायः अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। इन्होंने 'काव्यप्रकाश' नामक ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों पर समन्वयात्मक दृष्टि से विचार किया है। मम्मट के पश्चात् आचार्यों ने प्रायः व्याख्यात्मक शैली अपनाई है, अतः इसे 'व्याख्याकाल' भी कहते हैं। इस युग के आचार्यों में **रुय्यक** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने 'अलंकार-सर्वस्व' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। इन्होंने काव्यप्रकाश पर 'काव्यप्रकाशसंकेत' नामक टीका लिखी है। इनके अतिरिक्त इन्होंने काव्यशास्त्र पर और ग्रन्थ लिखे हैं। रुय्यक के पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' नामक काव्यशास्त्र का ग्रन्थ लिखा है। इनके पश्चात् जयदेव ने 'चन्द्रालोक' नामक ग्रन्थ लिखा है। इसमें उन्होंने काव्य के विविध अंग गुण, दोष, अलंकार आदि पर विचार किया है। जयदेव अलंकारवाद के पूर्ण समर्थक थे।

इस युग के आचार्यों में **विश्वनाथ** का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। इनका 'साहित्यर्पण' अलंकार-शास्त्र का सर्वमान्य ग्रन्थ है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता है कि इन्होंने काव्यशास्त्र के सिद्धान्त के साथ-साथ नाट्य-विषयों पर भी विचार किया है।

इस युग में **रूपगोस्वामी** एक आचार्य हुए हैं जिन्होंने रस के विषय में अनेक नवीन कल्पनाएँ की हैं। इनके काव्यशास्त्र-विषयक तीन ग्रन्थ हैं—(१) उज्ज्वल-नील-मणि, (२) भक्तिरसामृतसिन्धु, (३) नाटक-चन्द्रिका। इनके पश्चात् कवि **कर्णपूर्ण** का अलंकार-कौस्तुभ तथा **केशवमिश्र** का अलंकार-शेखर काव्यशास्त्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माने जाते हैं। इस युग के आचार्यों में **अप्पयदीक्षित** बहुमुखी विद्वान् थे। इन्होंने लगभग १०० ग्रन्थ लिखे है, काव्यशास्त्र में इनके तीन ग्रन्थ हैं—(१) कुवलयानन्द, (२) चित्रमीमांसा, (३) वृत्तवार्त्तिक। इस युग के अन्तिम आचार्य पण्डितराज **जगन्नाथ** हैं। इनका ग्रन्थ **'रस-गङ्गाधर'** के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता है कि इनके सारे उदाहरण स्वरचित हैं। अपूर्ण होने पर भी विवेचना की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण है । इस युग में प्राचीन ग्रन्थों पर अनेक टीकाएँ एवं व्याख्याएँ लिखी गई हैं ।

५. आधुनिक युग

पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् यह युग प्रारम्भ होता है । इस युग के आचार्यों में आशाधर भट्ट का नाम विशेष उल्लेखनीय है । इनकी तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—

१—कोविदानन्द
२—अलंकारदीपिका
३—त्रिवेणिका

त्रिवेणिका इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है । इसमें उन्होंने शब्दशक्तियों पर विचार किया है । अलंकारदीपिका में अलंकारों पर विवेचन है । इस युग के आचार्यों में विश्वेश्वर पण्डित का स्थान महत्त्वपूर्ण है । इनका प्रमुख ग्रन्थ 'अलंकार-कौस्तुभ' है । इसमें उन्होंने पण्डितराज जगन्नाथ एवं अप्पयदीक्षित के मतों का बड़ी प्रौढ़ता के साथ खण्डन किया है । इसके अतिरिक्त इनके चार अन्य ग्रन्थ भी हैं—रसचन्द्रिका, अलंकारप्रदीश, अलंकारमुक्तावली और कवीन्द्रकण्ठा-भरण । इनके पश्चात् काव्यशास्त्र के आचार्य नरसिंह कवि का नाम आता है । ये 'अभिनव कालिदास' की उपाधि से विभूषित थे । इन्होंने 'नागराजयशोभूषण' नामक काव्यशास्त्र का ग्रन्थ लिखा है ।

इस प्रकार संस्कृत-साहित्य के इतिहास में काव्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है । काव्य को सरस बनाने तथा उसमें सौन्दर्य लाने के लिए काव्यशास्त्र की उपादेयता ग्राह्य है । काव्य कलात्मक एवं ग्राह्य तभी हो सकता है, जब उसमें रस, अलंकार, गुण आदि का समुचित चित्रण हो और रसालंकारादि का समुचित चित्रण बिना काव्यशास्त्र के ज्ञान के नहीं हो सकता । राजशेखर ने इसकी उपयोगिता के वशीभूत होकर इसे वेद का सप्तम अंग स्वीकार किया है—

"उपकाकरत्वादलंकारः सप्तमङ्गमिति यायावरीयः"

प्रश्न २—प्राचीनकाल से आनन्दवर्धन के समय तक काव्यशास्त्र की प्रगति का विवरण प्रस्तुत कीजिये ।

अति प्राचीनकाल से आनन्दवर्धन तक काव्यशास्त्र के अनेक आचार्य हुए, किन्तु उन सब की कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं । राजशेखर ने काव्यमीमांसा में प्राचीन आचार्यों का उल्लेख किया है । उनके अनुसार काव्यशास्त्र का

प्रारम्भ ईश्वर से हुआ है। भगवान् श्रीकण्ठ शिव काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य हैं। उन्होंने काव्यशास्त्र का प्रथम उपदेश ब्रह्मा आदि शिष्यों को दिया और ब्रह्मा ने अपने मानस पुत्रों को पढ़ाया। उनमें सरस्वती का पुत्र काव्यपुरुष ने एक था। उसी ने तीनों लोक में काव्यशास्त्र का प्रसार किया। काव्यपुरुष भी काव्य-विद्या को अठारह भागों में विभक्त कर सहस्राक्षादि अठारह शिष्यों को पढ़ाया। इन शिष्यों ने गुरु द्वारा प्रदत्त काव्यविद्या के अठारह अङ्गों पर अठारह ग्रन्थों का निर्माण किया—

"सहस्राक्ष ने कविरहस्य का, उक्तिगर्भ ने औक्तिक का, सुवर्णनाभ ने रीति-निर्णय, प्राचेतायन ने अनुप्रास का, चित्राङ्गद ने यमक और चित्रकाव्य का, शेष ने शब्दश्लेष का, पुलस्य ने वास्तव का, औपकायन ने औपम्य का, पाराशर ने अतिशय का, उतथ्य ने अर्थश्लेष का, कुबेर ने उभायालङ्कारिक का, कामदेव ने विनोद का, भरत ने रूपक, नन्दिकेश्वर ने रस का, धिषण ने दोषाधिकरण का, उपमन्यु ने गुणोपादानिक और कुचुमार ने औपनिषदिक का पृथक-पृथक शास्त्रों के रुप में वर्णन किया है।

इन आचार्यों में अधिकांश आचार्यों के अस्तित्व का पता नहीं चलता। कामसूत्र में 'सुवर्णनाभ' और 'कुचुमार' का काव्यशास्त्र के आचार्य के रूप में उल्लेख है। कामसूत्र में आचार्य नन्दिकेश्वर का संगीत एवं अभिनय के आचार्य के रूप में उल्लेख है और काव्यसूत्र के प्रणेता के रूप में भी उल्लेख है। भरत का रूपक विषयक ग्रन्थ उपलब्ध ही है। लेष आचार्यों के सम्बन्ध में कुछ संकेत प्राप्त नहीं होता।

नन्दिकेश्वर

काव्यमीमांसा में नन्दिकेश्वर को रस का प्रतिष्ठापक बताया गया है। उनका रस-विषयक ग्रन्थ तो नहीं मिलता, किन्तु अभिनवगुप्त ने उनके मत का उल्लेख अभिनव-भारती में किया है। भावप्रकाशन के अनुसार नन्दिकेश्वर भरत के गुरु थे। भगवान् शिव के आदेश से उन्होंने भरत को नाट्य की शिक्षा दी थी। नन्दिकेश्वर के 'नन्दिकेश्वर-कारिका' नामक ग्रन्थ के अस्तित्व का पता चलता है। किन्तु वह उपलब्ध नहीं है। उनके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) अभिनयदर्पण (२) भरतार्णव। इनमें अभिनयदर्पण अभिनयपरक और भरतार्णव संगीतपरक ग्रन्थ है।

भरत

भरत का नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसमें रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इसका मुख्य विषय नाट्य-विवेचन है, किन्तु साथ-साथ अलङ्कारशास्त्र, छन्दशास्त्र, सङ्गीतशास्त्र आदि विषयों पर भी विचार किया गया है। नाट्यशास्त्र में काव्यशास्त्र से सम्वन्धित रस अलङ्कार गुण, दोष, वृत्ति आदि विषयों पर विचार किया गया है।

नाट्यशास्त्र में रस तथा उसके अङ्ग भावादि का विस्तृत विवेचन है। भरत रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक कहे जाते हैं। उन्होंने चार अलङ्कार, दस गुण तथा दस दोषों का भी निरूपण किया है। भरत ने दोषाभाव को गुण रूप माना है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में नाट्यविषयों के अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय विषय पर भी विचार किया गया है।

अग्निपुराण

नाट्यशास्त्र के पश्चात् काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ अग्निपुराण है अग्नि-पुराण में काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें काव्य के स्वरूप, रस, अलङ्कार, गुण, दोष, आदि विषयों पर विचार किया गया है। अग्निपुराण को काव्यशास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में अग्निपुराण का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मेधाविन्

भामह ने अपने काव्यालंकार में मेधाविन् का उल्लेख किया है। भामह के अनुसार मेधाविन् ने उपमा के सात दोषों का निरूपण किया है। नमिसाधु ने रुद्रट के काव्यालंकार की टीका में मेधाविन् का उल्लेख किया है। उपमा के दोष निरूपण का श्रेय मेधाविन् को है। मेधाविन् काव्यशास्त्र के एक महान् आचार्य थे। इनका कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में कला एवं नाट्यशास्त्र के निरूपण के साथ-साथ काव्यशास्त्र का भी निरूपण है। इसमें महत्त्वपूर्ण १८ अलंकारों का विवेचन है, किन्तु उनमें उपमा का निरूपण नहीं है।

भामह

भामह काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध एवं प्रमुख आचार्य हैं। ये अलंकार-सम्प्रदाय के प्राचीनतम आचार्य माने जाते हैं। भामह के ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार'

है । इसमें काव्य-प्रशंसा, काव्य-लक्षण, काव्यभेद तथा काव्यदोष-निरूपण के साथ-साथ अलङ्कारों का भी विस्तृत विवेचन है । इसके अतिरिक्त इसमें न्याय-निर्णय और शब्दशुद्धि पर भी विचार किया गया है । भामह अलङ्कार-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य हैं ।

दण्डी

भामह के पश्चात् दण्डी का नाम विशेष उल्लेखनीय है, दण्डी के ग्रन्थ का नाम 'काव्यादर्श' है, इसमें तीन परिच्छेद हैं । प्रथम परिच्छेद में काव्य-लक्षण, काव्यभेद, रीति, गुण एवं कवि के आवश्यक गुणों का विवेचन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में सोदाहरण ३५ अलंकारों का वर्णन है । तृतीय परिच्छेद में यमक एवं चित्रबन्ध का विशद विवेचन है । दण्डी ने गुणों एवं अलङ्कार दोनों का विशद निरूपण किया है, अतः उन्हें किसी एक सम्प्रदाय का आचार्य नहीं कहा जा सकता ।

उद्भट

काव्यशास्त्र के इतिहास में उद्भट का महत्वपूर्ण स्थान है । ये 'अलङ्कार-सम्प्रदाय' के प्रतिनिधि आचार्य हैं । इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार-सार-संग्रह' । इसमें इन्होंने ४१ अलङ्कारों का विवेचन किया है । इन्होंने भामहोक्त कुछ अलङ्कारों को छोड़ दिया है और छह अलङ्कार अधिक निरूपित किये हैं । उद्भट ने पुनरुक्तवदाभास, काव्यलिङ्ग, दृष्टान्त और सङ्कर ये चार नये अलंङ्कार सम्मिलित किये हैं । उद्भट श्लेष के दो प्रकार मानते हैं—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष और इन दोनों को वे अर्थालङ्कार में परिगणित करते हैं । इसके अतिरिक्त उद्भट ने 'भामह-विवरण' नामक ग्रन्थ भी लिखा है ।

वामन

उद्भट के पश्चात् काव्यशास्त्र में वामन का विशिष्ट स्थान है । वामन ने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार कर एक नये सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया है जो 'रीति-सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है । इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कारसूत्र' है । इसमें उन्होंने काव्य-लक्षण, काव्यभेद, काव्यदोष, गुण तथा अलङ्कारों का विवेचन किया है । वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा है (रीतिरात्मा काव्यस्य) । विशिष्ट पद-रचना को रीति और गुण को विशेष कहा है । इन्होंने सर्वप्रथम गुण और अलङ्कारों में भेद स्थापित किया है तथा वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली ये तीन रीतियाँ मानी हैं और वक्रोक्ति को अर्थालङ्कार

मात्र माना है। इन्होंने उपमा को मुख्य अलंकार माना है, अन्य समस्त अलंकारों को उपमा का प्रपञ्च माना है।

रुद्रट

रुद्रट अलंकार-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं। इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यअलंकार' है। इसमें काव्यशास्त्र के सभी अङ्गों पर विचार किया गया है। किन्तु उन्होंने अलंकारों को अधिक महत्त्व दिया है। इन्होंने सर्वप्रथम वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के रूप में अलंकारों का विभाजन किया है। नौ रसों के अतिरिक्त प्रेयान् नामक दसवाँ रस स्वीकार किया है। इन्होंने रीतियों को कोई महत्त्व नहीं दिया है। इन्होंने 'भाव' नामक एक नवीन अलंकार की कल्पना की है।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य कहे जाते हैं। उन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना कर आलोचनाशास्त्र में एक नवीन दिशा प्रदान की है। दर्शन-शास्त्र में अद्वैतवादी शंकराचार्य का जो स्थान है, अलंकारशास्त्र में वही स्थान आनन्दवर्धन का है। इनके ग्रन्थ का नाम 'ध्वन्यालोक' है। इसमें चार उद्योत हैं। इसमें ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन है। काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वन्यालोक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अभिनवगुप्त ने इस पर 'लोचन' नामक टीका लिखी है।

प्रश्न ३—आचार्य आनन्दवर्धन के जीवन-चरित तथा समय पर प्रकाश डालते हुए उनकी कृतियों का परिचय दीजिये

अथवा

ध्वन्यालोक के रचयिता एवं रचनाकाल पर प्रकाश डालिए।

ध्वनि-सिद्धांत के प्रवर्त्तक आचार्य आनन्दवर्धन का काव्यशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्याकरणशास्त्र के इतिहास में जो महत्त्व पाणिनि का और वेदान्तदर्शन में जो महत्त्व आचार्य शंकर का है, काव्यशास्त्र के इतिहास में वही महत्त्व आनन्दवर्धन को प्राप्त है। उन्होंने ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना कर आलोचनाशास्त्र को एक नवीन दिशा प्रदान की।

आचार्य आनन्दवर्धन के वंश एवं देश-काल के सम्बन्ध में कोई प्रबल प्रमाण उपलब्ध नहीं है। केवल कुछ संकेत यत्र तत्र प्राप्त होते हैं प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण ने राजतरङ्गिणी में लिखा है—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः ।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥

उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धन काश्मीरनरेश अवन्तिवर्मा के सभापण्डितों में से एक थे और उस समय के कवि के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे । इन्हें 'राजानक' की उपाधि प्राप्त हुई थी जो प्रायः कश्मीरी विद्वानों को सम्मानार्थ प्राप्त होती रही है । इनका जन्म कश्मीर के एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था । इनके पिता का नाम 'नाणोपाध्याय' था । ध्वन्यालोक' की एक पाण्डुलिपि में तृतीय उद्योत के अन्त में उन्होंने अपने को 'नोण' का पुत्र बताया है—

"एयत्पितुश्च 'नोण' इति नामासीदित्येतत्प्रणोतदेवीशतकतो प्रतीयते ।"

'देवीशतक' के १०१वें श्लोक से ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धन 'नोण' पुत्र थे और उन्होंने देवीशतक की रचना 'विषमबाणलीला' और 'अर्जुनचरित' के बाद में की थी। आचार्य हेमचन्द्र ने भी काव्यानुशासन में आनन्दवर्धन का 'नोण' के पुत्र के रूप में उल्लेख किया है । ये अनेक शास्त्रों के ज्ञाता, आलोचक, कवि तथा व्याकरणशास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् थे ।

आनन्दवर्धन के गुरु का नाम सहृदय' था । उन्होंने अपने गुरु (सहृदय) के मनःतोष के लिए ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या की है, जैसा कि निम्न उद्धरण से ज्ञात होता है—

तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ।' —(ध्वन्यालोक १।१)

'सहृयमनः प्रीतये' की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार कहते हैं—**रामायण-महाभारत प्रभृतिति लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते ।'** अर्थात् रामायण, महाभारत आदि लक्ष्य ग्रन्थों में सर्वत्र प्रसिद्ध व्यवहार को लक्षित करने वाले सहृदय (अपने गुरु) के चित्त में आनन्द (आनन्दवर्धन) प्रतिष्ठा को प्राप्त करें । लोचनकार अभिनवगुप्त ने उक्त वाक्य में आनन्द का अर्थ आनन्दवर्धन ही किया है (**आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम**) । उदयोत्तुङ्ग ने कौमुदी में लोचनकार के मङ्गलाचरण के अन्तिम पद की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"यदि वा कविशब्दे सर्वेऽपि कवयः सहृदया गृहीता सहृदयाशब्देनानन्द वर्धनाचार्यः, ततश्च देवात्मत्त्वे गुरेनमस्कारोऽपि अनुसहितऽपि भवति ।"

इस व्याख्या से भी 'सहृदय' व्यक्तिवाचक ही प्रतीत होता है और उपर्युक्त

कथन का यही अर्थ निकलता है कि वे आनन्दवर्धन इस शास्त्र के द्वारा सहृदय (अपने गुरु) के हृदय में प्रतिष्ठा (स्थिति) को प्राप्त होवे (स आनन्दवर्धनश्चायं एतच्छास्त्रद्वारेण सहृदयहृदये तिष्ठां.........) इस प्रकार 'सहृदय' आनन्दवर्धन के गुरु प्रतीत होते हैं जिनके मनस्तोष के लिए उन्होंने ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या की है।

किन्तु कुछ विद्वान् उपर्युक्त विचार से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि उक्त वाक्य में 'सहृदय' शब्द व्यक्तिवाचक नहीं है। यहाँ 'सहृदय' का अर्थ रसिकजन है, अर्थात् मैं रसिकजनों के मनस्तोष लिए ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या करता हूँ। लोचनकार ने सहृदय पद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो अपने हृदय में वर्ण्य-विषय से तन्मय होने की क्षमता रखते हैं और उसमें तन्मय हो जाते हैं, उन्हें 'सहृदय' कहते हैं। इस प्रकार सहृदय का अर्थ व्यक्ति-वाचक न होकर रसिकजन है। भट्टनायक के 'सहृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ से यही तात्पर्य निकलता है कि 'सहृदयदर्पण सहृदय अर्थात् रसिक-जनों के भावों का दर्पण है।

समय

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उद्भट का निर्देश किया है (तत्र भवद्भिः भट्टोद्भटादिभिः)। उद्भट का समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। अतः आनन्दवर्धन का समय आठवीं शताब्दी के पश्चात् होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ध्वन्यालोक की वृत्ति में उद्धृत—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः।।

श्लोक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—

"वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः भामहाभिप्रायेण ते समासोक्तिरित्याशयं मनसि गृहीत्वा सामासोक्त्याक्षेपयोरिदमेकोदाहरणं व्यतरत् ग्रन्थकृत्।"

अर्थात् उक्त उदाहरण में वामन के अनुसार आक्षेप अलंकार है और भामह के अनुसार समासोक्ति अलंकार है। अतः मैंने इन दोनों अलंकारों का एक ही उदाहरण दिया है। अभिनव के इस कथन से प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन भी वामन से परिचित थे। इससे आनन्दवर्धन वामन के परवर्ती सिद्ध होते हैं। वामन का समय ८०० ई० के आस-पास माना जाता है। अतः आनन्दवर्धन का समय इसके पश्चात् का होगा।

राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में आनन्द वर्धन का उल्लेख किया है (प्रतिभा-

व्युत्पत्योः प्रतिभा श्रेयसी इत्यानन्दः) । इसके अतिरिक्त जल्हण ने भी सूक्ति-मुक्तावली में राजशेखर के नाम से एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें आनन्द-वर्धन को ध्वनि का प्रतिष्ठाता बताया गया है—

ध्वनिनातिगंभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना ।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः ।।

इससे सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन राजशेखर से पहले हुए हैं । राजशेखर का समय ९०० ई० से ९२५ ई० के आस-पास माना जाता है, अतः आनन्द-वर्धन को इसके पूर्व होना चाहिए ।

अभिनवगुप्त ने लोचन में ध्वन्यालोक वृत्ति में कथित 'तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः' वाक्य के 'अन्येन' पद की व्याख्या करते हुए लिखा है—

तथा चान्येनेति—ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना ।

इस प्रकार लोचनकार अभिनवगुप्त के अनुसार मनोरथ कवि आनन्दवर्धन के समकालीन थे । मनोरथ कवि का उल्लेख कल्हण ने राजतरङ्गिणी में राजा जयापीड़ के राजकवि के रूप में किया है ।

मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथ ।
बभूवु कवयस्तस्य वामानाद्याश्च मन्त्रिणः ।

यदि ये मनोरथ कवि वही मनोरथ हैं और जयापीड़ भी वही जयापीड़ हैं तो यह सिद्ध हो जाता है कि आनन्दवर्धन का समय ८०० ई० के आस-पास मानना पड़ेगा । किन्तु यह मत उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उक्त श्लोक से मनोरथ कवि वामन के समकालीन सिद्ध होते हैं । वामन जयापीड़ के मन्त्री रहे हैं, अतः मनोरथ भी उन्हीं के समकालीन थे । अभिनवगुप्त ने मनोरथ को आनन्द के समकालीन बताने में कुछ भ्रांति की होगी अथवा ये कोई अन्य मनोरथ कवि रहे होंगे, जिनका उल्लेख लोचन में अभिनवगुप्त ने किया है ।

कल्हण के अनुसार आनन्दवर्धन कश्मीर नरेश महाराज अवन्तिवर्मा के राज्य में कवि के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः ।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ।

(राजतरङ्गिणी (५।५४)

अवन्तिवर्मा का समय ८५५-८८३ ई० माना गया है, अतः आनन्दवर्धन का

का समय इसी के आस-पास, अर्थात् ९ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

ग्रन्थ

आनन्दवर्धन व्याकरण, दर्शन, काव्यशास्त्र आदि अनेक विषयों के विद्वान् थे। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की थी—

१—ध्वन्यालोक
२—देवीशतक
३—विषमबाणलीला
४—अर्जुनचरित
५—धर्मोत्तमा विवृत्ति
६—तत्वालोक

ध्वन्यालोक इनकी कीर्ति का आधारस्तम्भ है। इसमें कुल चार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि, ध्वनि विरोधी प्राचीन आचार्यों के मतों का खण्डन तथा ध्वनि के स्वरूप पर विचार किया गया है। द्वितीय उद्योत में ध्वनि के भेद, रस गुण तथा अलङ्कारों का विवेचन है। तृतीय उद्योत में व्यंजक की दृष्टि से ध्वनि-भेद, रीति एवं वृत्तियों पर विवेचन किया गयाहै। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि के प्रयोजन तथा महत्त्व पर विचार किया गया है।

'देवीशतक' भगवती दुर्गा की आराधना के लिए लिखा है। यह काव्य-माला में प्रकाशित है। देवीशतक पर कैयट ने टीका लिखी है। 'विषमबाण-लीला' तथा 'अर्जुनचरित' ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। केवल ध्वन्यालोक में ही इनका उल्लेख पाया जाता है—

(१) यथा ममैव विषमबाणलीलायामसुरपराक्रमे कामदेवस्य।

(ध्वन्यालोक २।२७ की वृत्ति)

(२) एतच्च मदीयेऽर्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालावतरणप्रसंगे वैशद्येन प्रदर्शितम्।

(ध्व० ३।२५ कीवृत्ति)

'**धर्मोत्तमा**' धर्मकीर्ति के प्रमाण विनिश्चय की टीका है। इस पर आनन्द-वर्धन ने विवृत्ति लिखी है। इसका उल्लेख लोचनकार अभिनवगुप्त ने तृतीय उद्योत के अन्त में किया है। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने लोचन में आनन्द-वर्धन के '**तत्त्वालोक**' नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है।

'एतच्च ग्रन्थकारेण तत्त्वालोके वितत्योक्तम्। (ध्वन्यालोक ४।५)

प्रश्न ४—क्या आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक की कारिका एवं वृत्ति दोनों के रचयिता है ?

अथवा

क्या कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति हैं या दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

ध्वन्यालोक में तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति, और उदाहरण। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीनों के रचयिता एक ही व्यक्ति है। इनमें उदाहरण तो प्रायः अन्य ग्रन्थों से संगृहीत हैं, किन्तु कारिका एवं वृत्ति के विषय में पर्याप्त विवाद है कि क्या ये दोनों एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं ? कुछ विद्वानों के अनुसार कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति आनन्दवर्द्धन हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि कारिकाएँ आनन्दवर्धन से पूर्व किसी अन्य विद्वान् की लिखी हुई हैं और आनन्दवर्धन ने उस पर वृत्ति लिखी है। दोनों पक्षों के आचार्य बाह्य और आभ्यन्तर आधारों को प्रस्तुत करते हैं। म. म. काणे द्वारा सम्पादित 'संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ में इस विषय पर पर्याप्त विचार किया गया है। यहाँ उन्हें संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

सर्वप्रथम बूलर ने इस कथन को उठाया कि कारिकाकार और वृत्तिकार दोनों अलग-अलग हैं। म० म० काणे तथा प्रो० सोवनी आदि विद्वानों ने इसका समर्थन किया था। म० म० काणे दोनों की भिन्नता प्रतिपादित करने के लिए लोचन से कुछ उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक-लोचन में वृत्तिकार के लिए 'ग्रन्थकृत्' और कारिकाकार के लिए 'मूलग्रन्थकृत्' शब्द का प्रयोग किया है—

'आनन्द इति ग्रन्थकृतो नाम, तेन स एवानन्दवर्धनाचार्यः इत्यादि'

—लोचन

'सामासोत्स्थाक्षेपयोरेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत्' —लोचन

'प्रतिपादतम्' (ध्वन्य. १६६) शब्द की व्याख्या करते हुए लोचनकार कहते हैं—'अस्मन्मूलग्रन्थकृतेत्यर्थः।

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों से प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त ने लोचन में सब जगह वृत्तिकार के लिए ग्रन्थकृत्' कहा है और कारिकाकार के लिए 'मूलग्रन्थकृत्' कहा है। इस प्रकार लोचनकार के अनुसार कारिकाकार और

वृत्तिकार अलग-अलग हैं। इसके अतिरिक्त दोनों के पार्थक्य के कुछ और भी उदाहरण लोचन में मिलते हैं; जैसे—

(क) 'उक्तमेव ध्वनिस्वरूपतदाभासविवेकहेतुततया कारिकाकारोऽनुवदतीत्यभिप्रामेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति। (लोचन २।३३)

(ख) 'एतत् तावत् त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतम्, वृत्तिकारेण तु दर्शितम्, न चेदानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटनं करोति''

(ग) 'कारिकाकारेण पूर्वं'' व्यतिरिक उक्त''''पश्चादन्वयः। वृत्तिकारेण ''''अन्वयः पूर्वमुपात्तः।

(घ) 'यथौचित्यागस्तथा दर्शितमेवाग्रे' वृत्ति पर लोचनकार अभिनवगुप्त कहते हैं—'दर्शितमेवेति कारिकारेणेति भूतत्प्रययः'।

उपर्युक्त उद्धरणों से कारिकाकार और वृत्तिकार की भिन्नता सिद्ध होती है। कारिकाओं का निर्माण पहले हो चुका था और वृत्त की रचना बाद में हुई। अब प्रश्न यह उठता है कि कारिकाकार और वृत्तिकार यदि अलग-अलग हैं तो कारिकाकार कौन है और वृत्तिकार कौन है। ध्वन्यालोक के अन्त में वृत्तिकार ने स्वयं अपने को आनन्दवर्धन कहा है—

तद् व्याकरोद् सहृदयोदयलाभहेतोः
आनन्दवर्धन इति प्रथितभिधान ॥

इस कथन से सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन ही वृत्तिकार हैं। अब कारिकाकार कौन है? इस पर विचार करना है। प्रो० सोवानी कारिकाकार का नाम 'सहृदय' बताते हैं। अभिधामातृकावृत्ति के रचयिता मुकुलभट्ट उनके शिष्य प्रतिहारेन्दुराज 'सहृदय' का ध्वन्यालोककार के रूप में उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार 'सहृदय' समस्त ग्रन्थ के रचयिता है। मुकुलभट्ट का कथन है—

'तथाहि तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता।'

इससे सिद्ध होता है कि मुकुलभट्ट के समय में ध्वनि एक सिद्धान्त था। जिसका 'सहृदय' ने निरूपण किया था। इसी प्रकार मुकुलभट्ट के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज ने भी लिखा है।

"ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाह्लादिनः प्रधानभूतस्य स्वशब्दव्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीयमानैकरूपस्यार्थस्य सद्भावः तत्र तथाविधार्थाभिव्यक्तहेतुः काव्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः।"

ध्वन्यालोक में भी कई जगह 'सहृदय' का उल्लेख है जिससे 'सहृदय' शब्द की व्यक्तिवाचकता सिद्ध होती है जैसे—

'सहृदयानामानन्दो लभतां प्रतिष्ठाम्'

उपर्युक्त कथन से प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन के गुरु सहृदय ने कारिकाओं को रचना की थी आनन्दवर्धन ने उस पर वृत्ति लिखी। इसके अतिरिक्त ध्वन्यालोक के अन्तिम श्लोक में भी 'सहृदय' का उल्लेख है। (सहृदयोदयलाभहेतोः)। इस प्रकार ध्वन्यालोक के अनुसार भी कुछ विद्वानों ने 'सहृदय' को कारिकाकार माना है। अभिनवगुप्त ने लोचन की प्रस्तावना के द्वितीय श्लोक में लिखा है—

'सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयतात्'

उक्त श्लोक में प्रयुक्त 'सहृदय' शब्द ग्रन्थकार के नाम का द्योतक है। 'सरस्वती का तत्त्व कवि सहृदय है' इससे प्रतीत होता है कि कारिकाकार का नाम 'सहृदय' रहा होगा और उनके काव्य नाम 'सहृदयालोक' या 'सहृदय कारिका'। बाद में आनन्दवर्धन ने इस पर 'आलोक' ध्वन्यालोक या काव्यालोक नामक वृत्ति लिखी। इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर कारिका और वृत्ति के रचयिता अगल-अगल प्रतीत होते हैं।

डा० मूर्ति, डा० मुकर्जी, डा० भट्टाचार्य आदि विद्वान् कारिकाकार और वृत्तिकार को एक व्यक्ति मानते हैं। प्राचीनकाल में विद्वानों में यह परम्परा रही है कि जो विद्वान् अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए सूत्र या कारिका लिखते थे, वे उनकी वृत्ति भी लिखते थे। अतः कारिका और वृत्ति दोनों के लेखक एक ही व्यक्ति आनन्दवर्धन हैं। आनन्दवर्धन के दोनों के कर्त्तृत्व होने के निम्न प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

अभिनवगुप्त ने लोचन में 'सहृदयानामानन्दो मनसि लभातां प्रनिष्ठां' की व्याख्या करते हुए 'आनन्द' पद का अर्थ तो आनन्दवर्धन किया है किन्तु 'सहृदय' का अर्थ व्यक्त नहीं किया है; बल्कि इस ग्रन्थ के रचयिता आनन्दवर्धन को 'सहृदय-चक्रवती कहा है—

"आनन्द इति ग्रन्थकृतो नाम। तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्रद्वारेण हृदयहृदयेषु प्रतिष्ठां गच्छत्विति भावः।..................तस्य मनसि प्रतिष्ठा एवंविधमस्य मनः, सहृदय-चक्रवर्ती खल्वयं ग्रन्थकृत् इति यावत्।

(ध्वन्यालोक लोचन १।१)

म० म० काणे आदि विद्वान् लोचन में उद्धृत 'सहृदय' को कारिकाओं का रचयिता मानते हैं; किन्तु काव्यशास्त्र में 'सहृदय' शब्द व्यक्तिवाचक नहीं, बल्कि विशेषण पद है। जैसा कि लोचनकार ने लिखा है—

'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।

अर्थात् काव्यानुशीलन के अभ्यास से स्वच्छ मनरूपी दर्पण में वर्ण्य-वस्तु के साथ तन्मय होने की योग्यता होती है वे हृदय से वर्ण्य-वस्तु के साथ तन्मय होने वाले सहृदय होते हैं। इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने भी 'सहृदय' का अर्थ काव्यरसिक किया है—

"सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञा इति कस्यात्र विप्रतिपत्तिः"

(ध्वन्यालोक ३।४८ की वृत्ति)

उपर्युक्त कथन से प्रतीत होता है कि 'सहृदय' किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं है बल्कि काव्य के रसिक जन को सहृदय कहते हैं। अतः कारिकाओं का रचयिता सहृदय नामक कोई व्यक्ति नहीं है। जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर के नाम से एक श्लोक उद्धृत है। बताया गया है कि आनन्दवर्धन ने ध्वनि के द्वारा काव्यतत्त्व की स्थापना की है—

ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥

इस श्लोक से राजशेखर ने आनन्दवर्धन को ध्वनि का प्रवर्त्तक बताया है। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने आनन्दवर्धन को ध्वनिकार के नाम से सम्बोधित किया है—

'ध्वनिकारेण व्यंग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितः किं पौनरुक्त्येन ?"

महिमभट्ट ने जो अभिनव के समकालीन थे, 'व्यक्तिविवेक' में अनेक स्थलों पर ध्वन्यालोक से कारिकाओं एवं वृत्तिभाग को उद्धृत किया है और दोनों के रचयिता को सब जगह ध्वनिकार के नाम से निर्दिष्ट किया है। इस प्रकार महिमभट्ट के अनुसार कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति हैं।

क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार-चर्चा' में आनन्दवर्धन के नाम से ध्वन्यालोक से कारिकाओं को उद्धृत किया है। क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त के शिष्य थे। उन्होंने आनन्दवर्धन का कारिकाकार के रूप में उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने भी 'काव्यानुशासन' में ध्वन्यालोक की कुछ कारिकाओं को ध्वनिकार (आनन्दवर्धन) के नाम से उद्धृत किया है।

विश्वनाथ ने भी 'साहित्यदर्पण' में ध्वन्यालोक की कारिकाओं को ध्वनिकार के नाम से उल्लिखित किया है तथा वृत्ति को भी ध्वनिकार-रचित बताया ('ध्वनिकारेणाप्युक्तम्—'नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभः' इत्यादि) इस प्रकार आनन्द के बाद से विश्वनाथ तक सभी आचार्य कारिकाकार और वृत्तिकार को एक ही व्यक्ति मानते हैं और कारिका एवं वृत्ति दोनों का रचयिता आनन्दवर्धन को बताते हैं।

'अभिनवगुप्त लोचन में 'परम्परा यः समाम्नातः' पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ध्वन्यालोक के पूर्व ध्वनिविषयक कोई ग्रन्थ नहीं था—

'विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विवेचनादित्यभिप्रायः।"

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कारिका और वृत्ति दोनों के लेखक आनन्दवर्धन ही थे। उन्होंने ही कारिकायें लिखी और उन्होंने ही वृत्ति। प्राचीनकाल में विद्वानों में ऐसी प्रथा रही है कि जो विद्वान् कारिका लिखते रहे हैं वे उस पर वृत्ति भी लिखते रहे हैं जैसे कि वामन, मम्मट, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना की है। जैसे कि कौटिल्य के निम्न कथन से भी ज्ञात होता है—

'स्वमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भष्यं च।

डा० के० सी० पाण्डेय ने भी 'अभिनगुप्त' नामक ग्रन्थ में उल्लेख किया है कश्मीरी परम्परा में एक ही व्यक्ति कारिका (सूत्र) तथा वृत्ति की रचना करता था।[1] इस प्रकार पूर्व परम्परा के अनुसार आनन्दवर्धन कारिका और वृत्ति दोनों में रचयिता कहे जाते हैं।

५—काव्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य आनन्दवर्धन का स्थान निर्धारित करते हुए 'ध्वन्यालोक' के महत्त्व पर प्रकाश डालिये।

काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य आनन्दवर्धन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त प्रतिपादक 'ध्वन्यालोक नामक ग्रन्थ की रचना कर काव्य-जगत् को अभूतपूर्व गौरव प्रदान किया है। काव्य-जगत् में उन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त का अनुपम प्रकाश बिखेर कर काव्यशास्त्रियों को चकाचौंध कर दिया है। काव्यशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन को वही प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है जो प्रतिष्ठा व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र में महर्षि पाणिनि को और दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य शंकर को प्राप्त हुई है। अलंकारशास्त्र के

---

१. अभिनवगुप्त पृ० १३४

इतिहास में ये युगप्रवर्त्तक माने जाते हैं। उन्होंने अपने पूर्व काव्यशास्त्रीय मान्यताओं एवं आलोचना के सिद्धातों को नई दिशा में मोड़कर काव्यशास्त्र में एक सुव्यवस्थित मार्ग प्रतिष्ठित किया है जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने अलंकारों के लिए एक नवीन सरणि व्यवस्थित की है—

"ध्वनिकृतामालङ्कारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात् ।"

भामह ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर बताकर अलंकारों को महत्त्व प्रदान किया है, वामन ने अलंकारों की ग्राह्यता बताते हुए रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है, किन्तु आनन्दवर्धन ने इस सभी सिद्धान्तों को दबाकर काव्यक्षेत्र में सर्वत्र ही ध्वनि का साम्राज्य स्थापित किया है। यहाँ तक कि भरत के रससिद्धान्त को भी ध्वनि के अन्तर्गत ध्वनि के एक भेद के रूप में प्रदर्शित किया हैं। उनके इस सिद्धान्त का महत्त्व सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। आनन्दवर्धन केवल अचार्य ही नहीं, बल्कि एक सहृदय कवि भी थे। लोचनकार अभिनव ने उन्हें सहृदय सम्राट कहा है—

'सहृदयचक्रवर्ती खल्वयं ग्रन्थकृत।' —(ध्वन्यालोक लोचन)

भामह आदि आचार्यों ने कविता कामिनी के सौन्दर्य को प्रयोजक तत्त्व अलंकार माना है (न कान्तमपि निभूषं विभातिवनिताननम् ।)। वे अलंकारों से ही कविता-कामिनी के सजाने संवारने में अपनी प्रतिष्ठा समझते थे, उनके विचार से अलंकारों के अभाव में कविता-कामिनी सुन्दर के मुख भी शोभित नहीं होता। किन्तु आनन्दवर्धन को कविता-कामिनी का बाह्यालङ्कार शोभाबद्ध प्रतीत नहीं हुआ। उन्होंने काव्य के अन्तराज में प्रवेश कर सौन्दर्य के रहस्यमय तत्त्व को खोजा। वह तत्त्व है ध्वनि अर्थात प्रतीयमान अर्थ जिसके अभाव में अलंकृत काव्य भी सहृदयों को आकृष्ट नहीं कर सकता। उनका कहना है कि 'जिस प्रकार लावण्य अङ्गनाओं में विलक्षण सौन्दर्य का आधान करता है उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी में सौन्दर्य का आधान करता हैं'—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनसु ॥

(ध्वन्यालोक १।४)

इसी प्रतीमान अर्थ को ही काव्य की आत्मा कहा गया है (कव्यस्यात्मा, स एवार्थः)। जिस काव्य में प्रतीयमान अर्थ नहीं होता, वह श्रेष्ठ काव्य

नहीं कहा ज़ा सकता। बल्कि वह अधम काव्य की कोटि में गिना जाता है। इस प्रकार ललना के लावण्य के समान काव्य में प्रतीयमान अर्थ (ध्वनि) की प्रधानता स्वीकार की गई है।

आनन्दवर्धन का यही महत्त्व है कि उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा से ध्वनि को अन्य काव्याङ्गों से पृथक् कर इसे स्वतन्त्र एक नवीन प्रस्थान के रूप में प्रतिष्ठित किया है जो काव्यक्षेत्र में 'ध्वनि-सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। ध्वन्यालोक में इसी तत्त्व की व्याख्या की गई है।

काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वन्यालोक का अपना विशिष्ट स्थान है। वेदान्त दर्शन में जो स्थान शारीरिक-भाष्य का है, काव्य के क्षेत्र में वही स्थान ध्वन्यालोक का है। काव्य-जगत् में इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का कारण है। ध्वनि-प्रस्थान की नवीन उद्भावना। आचार्य आनन्दवर्धन ने इस ग्रन्थ में ध्वनि को आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित कर आचार्यों के लिए चिन्तन का एक नवीन मार्ग प्रदर्शित किया है। ध्वन्यालोक में उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों के गुण, अलंकार, रीति आदि तत्त्वों का विचार भी ध्वनि को ही केन्द्रबिन्दु मानकर किया है। ध्वनि का वैशिष्ट्य बताते हुए आनन्द ने ध्वन्यलोक के अन्त में लिखा है—"जो ध्वनि तत्व यहाँ (ध्वन्यालोक) में प्रदर्शित किया गया है वह कल्प-वृक्ष के समान है। सदैव सुन्दर रस के आश्रयभूत, गुण तथा अलंकारों की शोभा से समृद्ध उस ध्वनिरूप कल्पवृक्ष से सुकविजन अपना सभी मनोऽभिलषित (अभीष्ट) प्राप्त कर लेते हैं। सभी प्रकार के सुखों के धाम काव्यरूप देव वन (नन्दन वन) में यह ध्वनि तत्त्व कल्पवृक्ष के समान महत्त्वपूर्ण है।"

> **नित्याक्लिष्ट-रसाश्रयोचित-गुणालंकार-शोभाभृतो—**
> **यस्माद् वस्तु समीहितं सुकविभिः सर्वं समासाद्यते।**
> **काव्याख्येऽखिल-सौख्य-धाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः,**
> **सोऽयं कल्पतरूपमग्न-महिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्॥**

इस प्रकार काव्य क्षेत्र में ध्वनि का वही महत्त्व है जो नन्दन वन में कल्प-तरु का। कल्पतरु के समान ही ध्वनि-तत्त्व से कविजन अपनी कामना सिद्ध कर लेते हैं। इसी ध्वनि तत्त्व की महत्ता के कारण ध्वन्यानोक की काव्य-जगत् में पर्याप्त प्रतिष्ठा है। इसके अतिरिक्त ध्वन्यालोक में कुछ नवीन मान्यताएँ भी हैं जो उसकी प्रतिष्ठा को और आगे बढ़ा देती है।

१. ध्वन्यालोक की प्रथम विशेषता है—'ध्वनि-प्रस्थापन'। आनन्दवर्धन

ने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना कर, उसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है (काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति)।

२. ध्वन्यालोक की दूसरी विशेषता है 'ध्वनि-काव्य की प्रतिष्ठा'। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में 'ध्वनिकाव्य' को ही एकमात्र काव्य माना है। उनका कहना है कि काव्य मुख्यतः एक प्रकार का होता है 'ध्वनिकाव्य'। गुणीभूतव्यङ्ग्य को विवशतावश काव्य कह सकते हैं, क्योंकि गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य अलङ्कारों से युक्त होता है। इस प्रकार आनन्द के अनुसार मुख्यतः काव्य एक प्रकार का होता है 'ध्वनि-काव्य' और गौणतः दो प्रकार के होते हैं—ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूत-व्यङ्ग्य।

३. ध्वन्यालोक की तीसरी विशेषता है 'अर्थतत्त्व विचार'। आनन्दवर्धन ने अर्थतत्त्व पर मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार अर्थ दो प्रकार के होते हैं—वाच्य और प्रतीयमान। इनमें वाच्य उपमादिरूप अर्थ है और प्रतीयमान ललना में लावण्य के समान काव्य में व्यापक तत्त्व, जो आत्मा के समान होता है। दोनों परस्पर भिन्न हैं, किन्तु दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है।

४. ध्वन्यालोक की चतुर्थ विशेषता है—'प्रतीयमान अर्थ की कल्पना'। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में प्रतीयमान अर्थ की मौलिक कल्पना' की है। प्रतीयमान अर्थ व्यापक है वह काव्य के सभी अवयवों में रहता है और सहृदय-हृदय-ग्राही है।

५. 'ध्वन्यालोक' की पञ्चम विशेषता है 'शब्दतत्त्व विचार'। आनन्दवर्धन शब्द को वाचक-ध्वनि के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार शब्द काव्य का स्थूल शरीर है। वे प्रत्येक शब्द को काव्य के लिए उपयुक्त नहीं मानते। क्योंकि उनके अनुसार प्रतीयमान अर्थ के बोधक्षमता प्रत्येक शब्दों में नहीं होती।

६. ध्वन्यलोक की पष्ठ विशेपता है। 'शब्दशक्ति-विचार'। आनन्दवर्धन शब्दशक्तियों पर नये ढंग से विचार करते हैं। वे पहले मुख्य और अमुख्य दो शक्ति स्वीकार करते हैं फिर अमुख्य में 'व्यंजना' की एक कड़ी और जोड़ देते हैं। इस प्रकार उनके मत में शब्दशक्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं—

१—मुख्य (अभिधा)
२—अमुख्य (१) गुणवृत्ति (लक्षणा)
(२) व्यञ्जना (ध्वनि)

अन्यशास्त्रों में दो वृत्तियाँ मानी गई हैं वाचकत्व और गुणवृत्ति, किन्तु काव्यशास्त्र में तीन वृत्तियाँ मानी जाती हैं—(१) वाचकत्व (२) गुणवृत्ति (लक्षणा) और (३) व्यञ्जना।

७. ध्वन्यालोक की सप्तम विशेषता है 'व्यञ्जकत्व-व्यापार की स्थापना'। आनन्दवर्धन ने वाचकत्व और गुणवृत्ति (लक्षणा) के अतिरिक्त 'व्यञ्जना' नामक एक नवीन व्यापार की कल्पना की है, इन्होंने इसे स्वतन्त्र व्यापार माना है। इसी व्यञ्जना-व्यापार के द्वारा ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है।

८. ध्वन्यालोक की अष्टम विशेषता है 'गुण-विचार'। आनन्द के अनुसार गुण रस के धर्म भी होते हैं और शब्द एवं अर्थ के भी धर्म होते हैं। आनन्द दण्डी या वामन के अनुसार १० या २० गुण नहीं मानते। उनके अनुसार गुण तीन होते हैं—माधुर्य, ओज एवं प्रसाद। ये तीनों गुण रसनिष्ठ भी होते हैं और शब्दार्थनिष्ठ भी। आनन्द के अनुसार शब्दार्थनिष्ठ गुण भी रसमुखापेक्षी होते हैं अर्थात् सभी गुण रसाश्रित होते हैं।

९. ध्वन्यालोक की नवम विशेषता है—'अलंकारों की रसधर्मता। आनन्दवर्धन के अनुसार अलङ्कार भी रसनिष्ठ होते हैं। उनका कहना है कि जो अलंकार प्रतीयमान अर्थ (रस-ध्वनि) को अलंकृत नहीं करते। अलंकार अलंकार नहीं रहते।

१०. ध्वन्यालोक की दशवीं विशेषता है 'ध्वनिभेद-विषयक-विचार।' आनन्दवर्धन ध्वनि के न तो अभिनव के समान ३५ और न मम्मट के समान ५१ भेद मानते हैं। उनके अनुसार ध्वनि के असंख्य भेद हो सकते हैं।

११. ध्वन्यालोक की ग्यारहवीं विशेषता है 'उनकी महत्त्वपूर्ण टीकायें' ध्वन्यालोक पर सौ वर्ष के भीतर ही तीन टीकाएँ लिखी गयी हैं। वालप्रिया, विवरण तथा लोचन। उनमें लोचन टीका सबसे महत्त्वपूर्ण टीका है 'लोचन' अभिनवगुप्त की कृति है जो काव्यशास्त्रके

इतिहास में मौलिक ग्रन्थ के समान मान्य है। इनके अतिरिक्त भी इस पर कई टीकाएँ लिखी गई हैं।

उपर्युक्त विशेषताओं के कारण ही अभिनवगुप्त मम्मट आदि परिवर्त्ती आचार्यों ने इसे आधार मानकर अपने-अपने ग्रन्थों की रचना की है। इस प्रकार काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वन्यालोक का महत्वपूर्ण स्थान है।

६—'आनन्दवर्धन एक युग प्रवर्त्तक आचार्य थे, इस कथन की समीक्षा कीजिये।

अथवा

आनन्दवर्धन के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए ध्वन्यालोक का मूल्यांकन कीजिये।

'काव्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य आनन्दवर्धन का स्थान अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। आनन्दवर्धन सहृदय-कवि उत्तम-विचारक आचार्य एवं दर्शन के प्रौढ़ विद्वान् थे। आचार्य के रूप में उन्होंने 'ध्वन्यालोक' की रचना की थी। ध्वन्या-लोक ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है। आनन्दवर्धन ने इस ग्रन्थ में ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की सैद्धान्तिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका यह विवेचन काव्यशास्त्र में अद्वितीय है। आनन्दवर्धन ने अपने समय तक प्रचलित काव्यशास्त्रीय विषयों के चिन्तन का मार्ग परिवर्तित कर एक नवीन मार्ग की प्रतिष्ठा की, एक नये सिद्धान्त की स्थापना की, जिसे स्वीकार कर परवर्ती आचार्यों ने अपने ग्रन्थों की रचना की।

आनन्दवर्धन ने अपने से पूर्व प्रचलित काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का परि-शीलन कर 'ध्वनि' को सर्वोपरि पद पर प्रतिष्ठित किया और गुण, अलङ्कार, रीति, वृत्ति आदि सभी को ध्वनि के अन्तर्गत समाविष्ट कर दिया। उनके अनुसार 'ध्वनि' ही एकमात्र तत्त्व है, इसी में सभी काव्यशास्त्रीय तत्त्व अन्त-र्हित हैं। आनन्दवर्धन का कहना है कि ध्वनि ऐसा तत्त्व है जो काव्य की आत्मा है (काव्यस्यात्मा ध्वनिः)। इसी से काव्य प्राणवान् बनता है। इसके बिना काव्य निष्प्राण है।

आनन्दवर्धन ने काव्य अर्थतत्त्व को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। उनका कहना है कि शरीर में चैतन्य के समान काव्य में अर्थतत्त्व महनीय तत्त्व है। वह अर्थतत्त्व दो प्रकार का होता है—वाच्य और प्रतीयमान।

वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।

आनन्दवर्धन का कहना है कि इनमें वाच्य अर्थ का विश्लेषण उनके पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा किया जा चुका है, अतः वे इस तत्त्व पर विचार न कर केवल प्रतीयमान अर्थ पर ही विचार करते हैं। प्रतीयमान अर्थ की कल्पना आनन्दवर्धक की स्वयं सूझ-बूझ है। वे प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा मानते हैं।

शब्दतत्त्व के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन का दृष्टिकोण अलग है। उनके अनुसार प्रत्येक शब्द काव्य के लिए उपयुक्त नहीं होता। जो शब्द प्रतीयमान अर्थ से युक्त हो, वही शब्द काव्य के लिए उपयुक्त होता है।

आनन्दवर्धन तीन प्रकार की शब्दशक्तियाँ स्वीकार करते हैं—अभिधा, गुणवृत्ति (लक्षणा) एवं व्यञ्जना। आनन्दवर्धन के पूर्व तक व्यञ्जना को शब्दशक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया गया था। आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम वाचकत्व और गुणवृत्ति के अतिरिक्त व्यञ्जकत्व नामक एक शब्द व्यापार स्वीकार किया है। उनका कहना है कि काव्य में प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना के द्वारा ही होती है। यह व्यञ्जना व्यापार का एक स्वतन्त्र व्यापार है।

आनन्दवर्धन का गुण के विषय में नवीन दृष्टिकोण है। उन्होंने गुण को काव्य का अन्तरंग उपादान माना है। उनका कहना है कि गुण रस के आश्रित होकर रहते हैं किन्तु वह केवल रस के धर्म नहीं होते बल्कि शब्द और अर्थ के भी धर्म हैं। उनके अनुसार शब्दार्थ-निष्ठ गुण भी रसमुखापेक्षी होते हैं। अर्थात् शब्दार्थनिष्ठ गुण गुणरूप में प्रतीति के लिए रस का ही आश्रय लेते हैं वे गुणों की संख्या तीन ही स्वीकार करते हैं—प्रसाद, माधुर्य और ओज। क्योंकि ये तीन ही गुण रसाश्रित होते हैं। शेष गुणों का उन्होंनेप्र त्याख्यान कर दिया है।

आनन्दवर्धन गुण और अलंकारों का पार्थक्य बताते हुए कहते हैं कि अलंकार काव्य के धर्म हैं जो काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ के रहते हुए अंगी (रस) के चारुत्व के हेतु होते हैं। गुण रस के आश्रित रहते हैं। ये शौर्यादि के समान आत्मा के धर्म हैं। अलंकार कविता-कामिनी के कुण्डल हैं, कटक हैं, हार हैं और गुण सौन्दर्य एवं सौकुमार्य आदि।

वामन के रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है किन्तु आनन्दवर्धन ने उसे बहिरंग तत्त्व माना और संघटना' कहा है। उन्होंने रस को संघटना का नियामक बताया है। आनन्दवर्धन ध्वनि को ही एक मात्र काव्य मानते हैं और उनमें रसध्वनि को काव्य की आत्मा। उनका कहना है कि जब ध्वनि तत्त्व की

प्रतिष्ठा हो चुकी तब रीतितत्त्व के पृथक् प्रतिपादन की कोई आवश्यकता नहीं है। आनन्दवर्धन ने दो प्रकार की वृत्तियाँ स्वीकार की हैं—अर्थवृत्ति और शब्दवृत्ति। उनका कहना है कि वृत्तियाँ शब्द और अर्थ पर आश्रित रहती हैं। जब ध्वनिकाव्य का प्रतिपादन है चुका तो वृत्तियों के स्वरूप के प्रतिपादन की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के तीन प्रकार बताये हैं—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि। इसमें उन्होंने रसध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। एक ही श्लोक में जब कई रस होते हैं तो उनमें जो प्रधान रस होता है, उसे 'रस' या रसध्वनि कहते है और जो रस अप्रधान होता है उसे 'रसवद लंकार' कहते हैं। आनन्दवर्धन ने अपने ध्वनि-सिद्धान्त में अलंकारों को समाविष्ट कर दिया है। कुछ आचार्य ध्वनि को स्वीकार नहीं करते, किन्तु आनन्द वर्धन ने उन मतों का खण्डन कर ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की है।

आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनिकाव्य ही एक मात्र काव्य है। काव्य के अन्य भेदों को उन्होंने स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने रस, गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति आदि सभी काव्य तत्त्वों का ध्वनि में अन्तर्भाव कर लिया है। वे ध्वनि को काव्य का प्रमुख तत्त्व स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि कवि को अन्य तत्त्वों की अपेक्षा ध्वनि पर ही केन्द्रित रहना चाहिए। क्योंकि आलोचक गुणलंकारादि तत्त्वों पर विचार करते-करते अन्त में रसध्वनि में की विश्रान्ति को प्राप्त करता है। इस प्रकार आलोचना के क्षेत्र में उन्होने एक नवीन क्रान्ति उत्पन्न कर दी, आलोचकों के लिए एक नवीन दिशा प्रदान की। इन्हीं विशेषताओं के कारण वे युग-प्रवर्त्तक आचार्य कहे जाते हैं और उनके 'ध्वनिलोक' को काव्य-जगत् में विशिष्ट स्थान प्राप्त है, जो किसी अन्य को प्राप्त न हो सका। यह सहृदयों के लिए आलोक प्राप्त कराने वाला सहृदयालोक ही है।

७—ध्वनि-सिद्धान्त का उद्गम दिखाते हुए उसकी प्राचीनता का उल्लेख कीजिए।

अथवा

ध्वनि का उद्गम दिखाते हुए ध्वनि सिद्धान्त के प्रेरणा के मूल स्रोतों पर प्रकाश डालिए।

ध्वनि-सिद्धान्त एक प्राचीन सिद्धान्त है। आनन्दवर्धन के पूर्व यह सिद्धान्त विद्वानों के चर्चा का विषय बन चुका था। काव्यतत्त्ववेत्ता इससे भली-भाँति परिचित थे काव्यतत्त्ववेत्ताओं ने पहले से ही इसे काव्य का आत्मभूत तत्त्व स्वीकार कर लिया था, जैसा कि ध्वनिकार ने स्वयं कहा है कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वानों ने इसे अच्छी तरह विचार करने से पहले ही प्रकाशित कर दिया।

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति यैः समाम्नातपूर्वः"

अर्थात् काव्यतात्त्ववेत्तओं ने पर्याप्त विचार करके उस सिद्धान्त का पहले ही सूत्रपात कर दिया था, जिसका एक अविच्छिन्न प्रवाह चल पड़ा था और परवर्ती अचार्यों ने उसका अनुसरण किया, तथा यह परम्परागत व्याख्यात होने लगा। लोचनकार अभिनवगुप्त का कथन है कि यह सिद्धान्त किसी एक विद्वान के द्वारा प्रतिपादित नहीं है, वल्कि अनेक विद्वानों ने भली-भाँति विचार करके प्रतिपादित किया है। यद्यपि किसी विशिष्ट ग्रन्थ में इस सिद्धान्त का सन्निवेश नहीं किया गया था, फिर भी परम्परया यह विद्वानों की चर्चा का विषय बन चुका था और विद्वान् इस पर विचार कर रहे थे तथा उनका यह प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चलता रहा।

"अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्त विनापि विशिष्ट पुस्तकेषु विनिवेशना दित्यभिप्रायः।"

प्राचीन काल में इस सिद्धान्त की इतनी प्रतिष्ठा हो चुकी थी कि कुछ विद्वान इसका विरोध भी करने लगे थे भला अलंकारवादी और गुणवादी आचार्यों को उसकी प्रतिष्ठा कैसे सहन हो सकती थी? कोई उसका अभाव बताते थे तो दूसरे लक्षण में उसका अन्तर्भाव करते थे और कोई अलंकारों में ही समाविष्ट करते थे। आनन्दवर्धन उन सभी विरोधी मतों का शमन कर ध्वनि सिद्धान्त की पुनः प्रतिष्ठा की।

आनन्दवर्धन का कहना है कि लक्षण ग्रन्थों में भी ध्वनि-तत्त्व विद्यमान था व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि महाकवि इस सिद्धान्त से सर्वथा परिचित थे। उनके रामायण-महाभारतादि ग्रन्थों में सर्वत्र ध्वनि तत्त्व परिलक्षित होता है—

"अथ च रामायण-महाभारत-प्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।" (ध्वन्यालोक)

आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि का संकेत भरत नाट्यशास्त्र में भी देखने को मिलता है। नाट्यशास्त्र में रस को प्रमुख तत्त्व स्वीकार किया गया है (नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते)। ध्वनि-तत्त्व रस का ही विस्तृतीकरण प्रतीत होता है। क्योंकि आनन्दवर्धन ने ध्वनि के तीन भेदों में 'रसध्वनि' को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। उनका कहना है कि 'रस आदि के तात्पर्य से काव्य के निबन्धन की यह प्रथा भरत आदि के नाट्यशास्त्र में भी पाई जाती है। रस काव्य और नाट्य दोनों का जीवितभूत तत्त्व है।"

"·····एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेव। ····रसादयो हि द्वयोरपि तयोः (काव्यनाट्ययोः) जीवितभूताः। (ध्वन्यालोक)

भरत के पश्चात् अग्निपुराणकार ने तो स्पष्ट रूप से रस को काव्य का जीवन कहा है। उनका कहना है कि 'काव्य में वाक्वैचित्र्य होने पर भी रस ही उसका जीवन है।

वाग्वैदग्ध्यप्रधनेऽपि रस एवात्र जीवितम्"

अग्निपुराण में ध्वनि का उल्लेख है किन्तु सिद्धान्त के रूप में नहीं, बल्कि अलंकार के रूप में। अग्निपुराण में पर्यायोक्त अपह्नुति, समासोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा और आक्षेप इन पांच अलङ्कारों में प्रत्येक को ध्वनि कहा है आक्षेप को तो उन्होंने पृथक ध्वनि कहा है—

'स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिनाः व्यंजते यतः।' (अग्निपुराण)

आनन्दवर्धन ने इन पाँचों अलङ्कारों में ध्वनि के अस्तित्व का खण्डन कर ध्वनि की पृथक् सत्ता मानी है इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अग्निपुराण के समय में ध्वनि अलङ्कारों के रूप में विवेचना का विषय था जिसका ध्वन्यालोक में ध्वनिकार ने खण्डन किया है।

अग्निपुराण के पश्चात् भामह ने समासोक्ति, पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलङ्कारों में ध्वनि के आधारभूत प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार किया है उनके समासोक्ति अलङ्कार में तो ध्वन्यर्थ का स्पष्ट संकेत मिलता है। दण्डी ने भी पर्यायोक्त, उत्प्रेक्षा। आदि अलङ्कारों में ध्वनि के तत्त्व को देखा और इनका प्रयोग भी व्यंग्यार्थ (ध्वन्यर्थ) में ही किया है। उद्भट के 'काव्यालङ्कारसंग्रह' में ध्वनि का स्पष्ट संकेत मिलता है। उन्होंने 'पर्यायोक्त' अलंकार में अवगमात्मक व्यापार स्वीकार कर व्यंजना का अस्तित्व स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त 'अप्रस्तुत प्रशंसा, 'व्यस्तुति' आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ की सत्ता स्वीकार की है।

किन्तु भामह और दण्डी ने उद्भट की ध्वनि को अलङ्कारों तक ही सीमित रखा है। ये अलङ्कारवादी आचार्य थे। इन्होंने ध्वनि को अलङ्कार के क्षेत्र में ही रखा।

आनन्दवर्धन का कहना है कि 'रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य वामन को इस ध्वनि रूप काव्यतत्त्व का अस्फुट रूप आभास अवश्य था, जिसका प्रतिपादन वे न कर सके और रीतियों को प्रवर्त्तित कर दिया।'

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्त्तिताः।

(ध्वन्यालोक ३।४७)

वामन ने अलङ्कारों की अपेक्षा गुणों को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने रीति का गुण में पर्यवसान माना है और गुण का रस में पर्यवसान मानकर रस-ध्वनि की रमणीयता को पहचानने का प्रयास किया है। उन्होंने गुणों का अस्तित्व रस रूपी प्रतीयमान अर्थ में देखा यह प्रतीयमान अर्थ ही 'ध्वनि' का आधार है।

वक्रोक्ति अलङ्कार में भी ध्वनि का बीज देखा जा सकता है। वक्रोक्ति का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया है। उन्होंने वक्रोक्ति को सभी अलङ्कारों का मूल कहा और अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति का पर्याय माना है। उन्होंने इसी वक्रोक्ति अथवा अतिशयोक्ति में ध्वनिवादी आचार्य के प्रतीयमान अर्थ का दर्शन दिया है। ध्वनिकार आनन्द ने भामह के वक्रोक्ति का समर्थन किया है। दण्डी ने भी अतिशयोक्ति को समस्त अलङ्कारों का आश्रय मानकर भामह का समर्थन किया है। वामन ने भी वक्रोक्ति नामक अलङ्कार को स्वीकार किया है। रुय्यक के अनुसार वामन का वक्रोक्ति अलंकार एक ध्वनिभेद अविवक्षितवाच्य) ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन का कहना है कि "पूर्ववर्ती काव्यलक्षणकारों ने काव्यों में अमुख्यवृत्ति को व्यवहार प्रदर्शित करके ध्वनिमार्ग का थोड़ा-सा स्पर्श किया है केवल लक्षण ही नहीं दिया है—"

"काव्यलक्षणविधायिभिः''''अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनि-मार्गो मनाग् स्पृष्टोऽपि न लक्षितः।"

—ध्वन्यालोक पृ० १६)

ध्वनिकार आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्य रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' में ध्वनितत्त्व का बीज सरलता से देखा जा सकता है। अग्निपुराण के पश्चात् रुद्रट ने ही रस का सुव्यवस्थित विवेचन किया है। उनका यह रस-विवेचन रसध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाले ध्वनिवादी आचार्यों के अतिनिकट है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अलंकारवादी आचार्य ध्वनि-सिद्धान्त से परिचित थे। हाँ, उन्होंने रस को रसवदादि अलङ्कारों तक ही सीमित रखा और प्रतीयमान अर्थ को भी अललंकार के रूप में ही देखा किन्तु आनन्दवर्धन ने उस प्रतीयमान अर्थ (ध्वनितत्त्व) को स्वतन्त्र तत्त्व स्वीकार कर पृथक् सिद्धान्त के रूप में व्याख्या की है।

अब प्रश्न उठता है कि ध्वनिवादियों के ध्वनितत्त्व की प्रेरणा का स्रोत क्या था ? इस पर आनन्दवर्धन का कहना है कि 'ध्वनि' नाम विद्वानों द्वारा अभिहित किया गया है। ये प्रथम विद्वान् वैयाकरण हैं क्योंकि व्याकरण ही सब विद्याओं का मूल है। वे लोग सुनाई पड़ने वाले वर्णों को ध्वनि नाम से अभिहित करते हैं। उन्हीं के मतानुयायी काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वानों ने भी व्यङ्ग्यार्थ-प्रधान काव्य को 'ध्वनि' कहा है—

"प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। च श्रूयमाणेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः"।

—(ध्वन्यालोक १।१३ वृत्ति)

इससे स्पष्ट है कि ध्वनिवादियों को ध्वनि-सिद्धान्त की प्रेरणा वैयाकरणों से प्राप्त हुई है। वैयाकरणों का 'स्फाटवाद' ही ध्वनि का मूल आधार है। स्फोट का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—जिससे अर्थ प्रस्फुटित होता है वह स्फोट है (स्फुटित अर्थोऽस्मादिति स्फोटः, स्फुटयति अर्थं प्रकाशयति इति वा।)

श्रोत्रग्राह्य वर्ण के आशुतर विनाशी होने के कारण जब एक वर्ण के उच्चारण के बाद द्वितीय वर्ण का उच्चारण होता है तो प्रथम वर्ण नष्ट हो जाता है तो समुदाय रूप वर्ण समूह की एक साथ उपस्थिति कैसे हो सकती है ? इसी प्रकार अनेक पद समूह से वाक्य की भी उपस्थिति नहीं होगी। इस शंका

के समाधान के लिए वैयाकरणों ने स्फोटवाद की कल्पना की। उनका कहना है कि पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है। इस संस्कार के सहकृत अन्त्य वर्ण के श्रवण से पद की प्रतीति होती है, उसे ही 'स्फोट' कहते हैं। यह स्फोट रूप शब्द नित्य एवं ब्रह्म रूप है। इस प्रकार वर्ण-समुदाय रूप पदों से स्फोट रूप नित्य शब्द की प्रतीति होती है और उसी अभिव्यक्त शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। इसी स्फोट रूप शब्द के व्यञ्जक उच्चरित वर्ण समुदाय को वैयाकरण लोग ध्वनि (नाद) कहते हैं। क्योंकि स्फोट की अभिव्यक्ति शब्द से होने के कारण वैयाकरण लोग स्फोट के व्यञ्जक शब्द के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग करने लगे और इसी आधार पर तन्मतानुयायी आनन्दवर्धन आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने भी प्रतीयमान अर्थ के व्यञ्जक शब्द और अर्थ के लिए 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया।

वैयाकरणों के अनुसार ध्वनि के भेद होते हैं—प्राकृत-ध्वनि और वैकृत-ध्वनि। इनमें प्राकृतध्वनि से स्फोट का ग्रहण होता है, इस प्रकार स्फोट व्यङ्ग्य है और ध्वनि व्यञ्जक। वैकृतध्वनि वृत्ति भेद में कारण होती है। द्रुतविलम्बादि वृत्तियों के कारण रूप वैकृत ध्वनियाँ स्फोट की अभिव्यक्ति में कोई भेद उत्पन्न नहीं करतीं।

स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते ।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ॥ (वाक्यदीय)

इस प्रकार वैयाकरणों ने अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य इन तीनों व्यापारों से मिश्र प्रतीयमान अर्थ के अभिव्यञ्जक व्यापार को 'ध्वनि' कहा है। इस प्रकार व्यञ्जक शब्द व्यञ्जक अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जना व्यापार इनरोंचा के लिए 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार होता है और इन चारों से समन्वित समस्त काव्य को भी 'ध्वनि कहते हैं। आनन्दवर्धन ने पाँचों को 'ध्वनि' नाम से अभिहित किया है—

"वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।" (ध्वन्यालोक १।१३ की वृत्ति)

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने भी कहा है कि आनन्दवर्धन के अनुसार वाच्यार्थ, वाचक शब्द, व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जना व्यापार और इन चारों से समन्वित काव्य इन पाँचों के लिए ध्वनि शब्द का व्यवहार होता है—

"एवं चतुर्ष्वमपि ध्वनिः तद्योगाच्च समस्तमपि काव्यं ध्वनिः।"
(ध्वन्यालोक लोचन)

प्रश्न ८—काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इस कथन की समीक्षा कीजिये।

काव्यशास्त्र के इतिहास में सम्प्रदायों की चर्चा आयी है। इन सम्प्रदायों की स्थापना काव्य के आत्मभूत तत्त्वों के आधार पर हुई। काव्यशास्त्र में छः सम्प्रदाय मान्य हैं—रससम्प्रदाय, अलंकारसम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय, वक्रोक्तिसम्प्रदाय और औचित्यसम्प्रदाय। इन छहों सम्प्रदायों में रस-सम्प्रदाय सबसे प्राचीन है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक भरतमुनि हैं। उनके अनुसार रस ही सर्वोपरि तत्त्व है (नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते)। अग्नि-पुराणकार ने सर्वप्रथम रस को काव्य का आत्मभूत तत्त्व कहा है—

"वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्"

इस प्रकार काव्य में रस को काव्य की आत्मा कहा जाने लगा। अग्नि-पुराण के पश्चात् अलंकार युग आता है। इस युग के प्रमुख आचार्य भामह, उद्भट आदि आचार्य हैं। उन्होंने अलंकार को ही काव्य का परम तत्त्व कहा है। इस समय अलंकारों की चकाचौंध से रस-सिद्धान्त दब गया और रस को अलंकारों तक ही सीमित रखा। यद्यपि भामह ने काव्य में रस की स्थिति को आवश्यक बताया है और दण्डी ने अलंकारों को रस का उत्कर्षाधायक तत्त्व बताकर काव्य में रस की मुख्यता स्वीकार की है, फिर भी वे काव्य में अलं-कारों की ही प्रधानता देते हैं। इस प्रकार रस का आत्मत्व पक्ष दब गया था और उसका स्थान, अलंकार, अलंकारों से गुण और रीति ने ले लिया था। आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा (रीतिरात्मा काव्यस्य) कहकर रीति-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना करके रीति के स्वतन्त्र अस्तित्व को दबाकर उसे परतन्त्र बना दिया। और उन्होंने ध्वनि को काव्य का जीवितभूत तत्त्व स्वीकार किया। उनका कहना है कि जो स्थान मानव-शरीर में आत्मा का है वही स्थान काव्य में ध्वनि का माना जाता है। इस प्रकार ध्वनि काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया—

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधर्यः समाम्नातपूर्वं"

आनन्दवर्धन का कहना है कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' इस बात को अनेक काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वानों ने प्रतिपादित किया है जिसका प्रवाह अविच्छिन्न

रूप से चलता रहा है। इन प्राचीन आचार्यों में भरत ने तो रसादि तात्पर्य से इस ध्वन्यमान अर्थ का प्रतिपादन किया ही है (एतच्च रसादितात्पर्येण काव्य-निबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेव। ध्व ३।३१ की वृत्ति) और अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले इस ध्वनितत्त्व की व्याख्या करने में असमर्थ वामन ने रीतियाँ प्रवर्तित की हैं—

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नु बद्भिर्व्याकर्त्तुं रीतयः सम्प्रवर्त्तिताः॥
(ध्वन्यालोक ३।४७)

काव्य में अलङ्कारों की ही प्रधानता स्वीकार करने वाले भामह, उद्भट आदि आचार्यों ने इस ध्वन्यर्थ का अपलाप करने में असमर्थ होकर आक्षेप, पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, अपह्नुति आदि अलङ्कारों में उसका अन्तर्भाव कर दिया और रसादि अर्थों को रसवत्, प्रेय आदि अलङ्कारों में अन्तर्भूत कर दिया है जिसका खण्डन ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में किया है।

'इह हि तावद् भामहोद्भट-प्रभृतयश्चिरन्तनालंकार-प्रकाराः प्रतीयमान-मर्थं वाच्योपस्कारतयालंकारपक्ष-निक्षिप्तं मन्यन्ते।''
(अलङ्कारसर्वस्व—रुय्यक)

आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है। यहाँ पर 'आत्मा' का अर्थ किया गया है 'तत्त्व' और तत्त्व शब्द का अर्थ किया है जिसके स्वरूप का कभी बाध न हो। अर्थात् जिस प्रकार आत्मा के स्वरूप का कभी बाध नहीं होता है उसी प्रकार ध्वनि का स्वरूप भी कभी बाधित नहीं होता और जिस प्रकार शरीर में आत्मा सारभूत तत्त्व है उसी प्रकार काव्य में ध्वनि सारभूत तत्त्व है।

'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इस वाक्य में ध्वनिकार आत्मा को अर्थरूप स्वीकार करते हैं। काव्य का वह आत्मस्थानीय अर्थ है। प्रतीयमान अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ। यही प्रतीयमान अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) काव्य की आत्मा है (काव्यस्यात्मा स एवार्थः)। यह प्रतीयमान अर्थ (ध्वन्यर्थ) कुछ और ही तत्त्व है जो अङ्गना के प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न लावण्य के समान महाकवियों की वाणी में वाच्यार्थ से भिन्न भासित होता है—

'प्रतीयमानं पुनरयन्देव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

(ध्वन्यालोक १।४)

इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतीयमान अर्थ ही ध्वन्यर्थ या व्यंग्यार्थ है और यही सारभूत पदार्थ है । यह सारभूत तत्व रूप ध्वन्यर्थ कहीं रसादिरूप में, कहीं अलङ्कार रूप में और कहीं वस्तुरूप में भासित होता है—

"एवं वस्त्वलंकाररसभेदेन त्रिधा ध्वनिः ।"

इस प्रकार यह त्रिविध रूप ध्वनि ही काव्य की आत्मा है । ध्वनिकार के अनुसार ध्वनि के तीन रूप हैं—रसादिध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि । उन्होंने सामान्यतः ध्वनिरूप इन तीनों को काव्य की आत्मा माना है । वस्तुतः 'रसादिध्वनि' ही काव्य की आत्मा है । क्योंकि वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि तो कभी-कभी वाच्य भी हो जाता है किन्तु रसादिध्वनि तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं होता । अतः वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि की अपेक्षा रसध्वनि श्रेष्ठ है और यही रसादिध्वनि काव्य की आत्मा है । अभिनवगुप्त ने भी कहा है कि वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि तो रस में ही पर्यवसित होती हैं अतः रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है । चूँकि वस्तु एवं अलंकार ध्वनियाँ वाच्य की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है अतः सामान्यरूप से उन्हें काव्य की आत्या कहा गया है । वस्तुतः रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है—

"तेन रस एव वस्तुत आत्मा । वस्त्वलंकारध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम् ।" (ध्वन्यालोक लोचन १।५)

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः इस वाक्य में 'एव' पद के द्वारा तीनों ध्वनियों में रसध्वनि को ही सर्वश्रेष्ठ सारभूत काव्य की आत्मा स्वीकार करने में विशेष अभिनिवेश दिखाया है—

"काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः""शोक एव श्लोकतया परिणतः ।"

इस प्रकार ध्वनिकार आनन्दवर्धन यद्यपि प्रतीयमान अर्थ के वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि रूप अन्य भेद भी स्वीकार करते हैं किन्तु रसध्वनि को ही उन्होंने सारभूत काव्य की आत्मा माना है । आनन्दवर्धन के अनुयायी अभिनव, मम्मट आदि आचार्यों ने भी रसध्वनि को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है । अभिनव-

गुप्त का कहना है कि व्यञ्जना व्यापार से गम्यमान आस्वादरूप रस होता है, उसे ही ब्रह्मास्वादसहोदर कहा गया है और वही मुख्यताया सिद्धि रूप है अतः 'रसध्वनि' ही काव्य की आत्मा है—

"सर्वत्र रसध्वनेरेवात्मभावः"—

(ध्वन्यालोक लोचन २।४.५ वृत्ति)

आनन्दवर्धन ने जो 'काव्य की आत्मा ध्वनि' कहा है उस पर कुछ आलोचकों का कहना है कि यह ध्वनिकार आनन्दवर्धन का अपना मत नहीं है जैसा कि उनके **'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः'** इस कथन से प्रतीत होता है कि वे अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों द्वारा व्याख्यात मत का उल्लेख कर रहे हैं। उन्होंने तो रसादि को ही काव्य की आत्मा माना है (**काव्यस्यात्मा स एवार्थः**....)। किन्तु यह ठीक प्रतीत नहीं होता है क्योंकि यद्यपि उन्होंने 'समाम्नातपूर्वः' कहकर उसे अपने पूर्ववर्त्ती विद्वानों का मत बताया है फिर भी इसे ही वे अपना मत मानते हैं और इसी मत को उन्होंने अपने ग्रंथ में आदि से अन्त तक समर्थन किया है। जो उन्होंने 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' कहकर रसादिध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है उससे भी उनके मत से विरोध नहीं है क्योंकि रसादि (रस) भी तो ध्वनिरूप ही हैं। अतः उनके 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इस सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं है। इससे वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि को भी काव्यात्मक के क्षेत्र से बाहर नहीं रख सकते। अतः रसध्वनि की काव्यात्मता मान लेने पर वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि की भी आत्मता सिद्ध हो जाती है जैसा कि लोचनकार ने भी कहा है—

"अन्यशाब्दवैलक्षण्यकारित्वेन वस्त्वलंकारध्वनेरपि जीवितत्वमौचित्यादुक्तमिति।

(ध्वन्यालोक लोचन)

जो कि आनन्दवर्धन रसध्वनि को अन्य ध्वनियों की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाते हैं उसका यह तात्पर्य नहीं कि वे वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं मानते।

वस्तुतः रसादि ध्वनि के ही भेद हैं अतः ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने पर रस, वस्तु तथा अलंकार रूप सभी काव्य जीवितभूत सिद्ध हो जाते हैं। अतः ध्वनिकार ने मुख्यरूप से ध्वनि को ही काव्य की आत्मा कहा है और यही उनका सिद्धान्त पक्ष है।

'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'

६—ध्वनि का अर्थ लिखकर ध्वनि-काव्य की परिभाषा लिखिये ।

अथवा

ध्वनि से आप क्या समझते हैं ? विवेचना कीजिये ।

ध्वनि के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आनन्दवर्धन ने लिखा है कि "जहाँ पर वाच्य और वाचक शब्द अपने को तथा अपने अर्थ को गौड़ (अप्रधान) बना कर व्यंग्य अर्थ को अभिव्यक्ति करते हैं उस काव्य-विशेष को विद्वानों ने 'ध्वनि' कहा है ।"

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

(ध्वन्यालोक १।१३)

अर्थात् जहाँ पर शब्द अपने अभिधेयार्थ को तथा अपनी आत्मा को (अपने को) गौड़ बना देता है वहाँ 'ध्वनि-काव्य' होता है । तात्पर्य यह है कि जिस काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार पाया जाता है उसे 'ध्वनि-काव्य' कहते हैं । आनन्दवर्धन के इस कथन का समर्थन मम्मट आदि परिवर्त्ती आचार्यों ने भी किया है । मम्मट ने ध्वनि-काव्य का लक्षण किया है—

'इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः"

अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अतिशय होता है वहाँ 'ध्वनि-काव्य' होता है । अभिनवगुप्त के 'ध्वनि' शब्द की व्युत्पत्ति-परक अर्थ करके ध्वनि के अन्तर्गत शब्द, अर्थ और व्यापार तीनों का समावेश कर दिया है । ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार कीजा सकती है—

१—ध्वनति इति ध्वनिः ।

२—ध्वन्यते इति ध्वनिः ।

३—ध्वननं ध्वनिः ।

जब हम 'ध्वनितीति ध्वनिः' यह व्युत्पत्ति करते हैं तो इसका अर्थ वाच्यार्थ भी होता है और वाचक शब्द भी । इस प्रकार वाच्यार्थ भी ध्वनि है और वाचक शब्द भी ध्वनि है । जग 'ध्वन्यते इति ध्वनिः; कर्मवाच्य में व्युत्पत्ति (व्याख्या) करते हैं तब उसका अर्थ व्यंग्यार्थ होता है । इस प्रकार व्यंग्य अर्थ भी ध्वनि है । जब हम 'ध्वननमिति ध्वनिः' इस प्रकार व्युत्पत्ति करते हैं तो उसका अर्थ होता है 'शब्द और अर्थ का व्यापार' इस प्रकार शब्द

और अर्थ का व्यापार भी ध्वनि होता है। इस सब का समुदाय ही काव्य रूप होता है अतः उसे मुख्य रूप से 'ध्वनि' कहते हैं। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार वाच्य शब्द भी ध्वनि होता है, वाच्यार्थ भी ध्वनि होता है, व्यङ्ग्यार्थ भी ध्वनि होता है, व्यंजकत्व नामक शब्द व्यापार भी ध्वनि होता है और इन सबका समुदाय रूप काव्य ध्वनि है—

"तेन वाच्योऽपि ध्वनिः, वाचकोअपि शब्दो ध्वनिः द्वयोरपि व्यंजकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। संमिश्रयते विभावानुभावसंबलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यते इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वननः ध्वनिः काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽति ध्वनिः।' (ध्वन्यालोक लोचन १।१३ की वृत्ति)

आनन्दवर्धन, के शब्द, वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ, व्यञ्जना व्यापार तथा इनसे युक्त काव्य इन पाँचों को ध्वनि नाम से अभिहित किया है, किन्तु इन पाँचों में उन्होंने काव्य को ही मुख्य माना है। उनका कहना है कि काव्य में शब्द भी होता है, वाच्यार्थ भी होता है और व्यंग्यार्थ भी होता है; शब्द और वाच्यार्थ के गुण एवं अलंकार भी होते हैं और व्यञ्जना व्यापार भी होता है। इन सब का समूह ही काव्य कहा जाता है। और मुख्य रूप से काव्य को ही 'ध्वनि' कहते हैं। अभिनवगुप्त ने भी उसका प्रतिपादन किया है—

"अर्थऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम्। व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यते इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्रधान्येन समुदाय एव काव्य रूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।" (ध्वन्यालोक लोचन १।१३)

आनन्दवर्धन काव्य-विशेषता को 'ध्वनि' कहते हैं। अभिनवगुप्त काव्य-विशेष का अर्थ काव्य की विशेषता अथवा काव्य और उसकी विशेषता करते हैं। प्रकार उनके अनुसार गुण और अलङ्कार से उपस्कृत शब्द और अर्थ का अनुसरण करने वाले काव्य की विशेषता ही ध्वनि कहलाती है और इसी ध्वनि को काव्य की आत्मा कहते हैं—

"काव्यश्च तद्विशेषश्चासौ, काव्यस्य वा विशेषः। काव्यग्रहणाद् गुणालंकारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनिलक्षणश्च आत्मेत्युक्तम्।"

अभिनवगुप्त का कथन है कि जो कुछ विद्वान् चारुता की प्रतीति को काव्य की आत्मा मानते हैं, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। दोनों एक ही बात हैं। चाहे उसे ध्वनि कहें अथवा चारुत्व प्रतीति कहें। इस प्रकार वाच्यार्थ की अपेक्षा

अधिक चमत्कारजनक व्यंग्यार्थ ही 'ध्वनि-काव्य' कहा जाता है। ध्वनिवादी आचार्य अपने मत की पुष्टि में वैयाकरणों की सम्मति का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि 'वैयाकरणों ने प्रधानभूत स्फोट रूप व्यंग्य की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है। उसके बाद उनके मत का अनुसरण करने वाले काव्यशास्त्रियों ने भी वाच्यार्थ को गौड़ बना देने वाले व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द और अर्थ के लिए 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया।'

आनन्दवर्धन ने काव्य में दो प्रकार के अर्थों का उल्लेख किया है—वाच्य और प्रतीयमान। इसमें जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ का अतिशय होगा वहाँ 'ध्वनि-काव्य होगा। यदि प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता (अतिशय) नहीं होती है तो वहाँ गुणीभूत-व्यंग्य होता है। यद्यपि ध्वनिकार के अनुसार वाच्य और प्रतीयमान दोनों अर्थ सहृदयों द्वारा प्रशंसनीय हैं फिर भी उसमें प्रतीयमान अर्थ का अधिक महत्त्व है।

आनन्दवर्धन का कहना है कि वाक्य की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु है जो महाकवियों की वाणी में हुआ करती है यह प्रतीयमान अर्थ अङ्गनाओं में प्रसिद्ध अवयवों से अतिरिक्त लावण्य के समान अलङ्कारों एवं प्रसिद्ध शब्दार्थ अवयवों से भिन्न शोभित होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ललना के शरीर में आँख, कान आदि से भिन्न लावण्य एक अलौकिक पदार्थ है उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ भी अलंकारणादि से पृथक् एक अलौकिक तत्त्व है, जो सहृदयों ने मन को आह्लादित करने वाला होता है।

> प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
> यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।
>
> (ध्वन्यालोक १।४)

ध्वनिकार ने प्रतीयमान अर्थ के दो अर्थ किए हैं—ध्वनि और गुणीभूत-व्यंग्य। काव्य में जब वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ का अतिशय होगा तब ध्वनि-काव्य होता है और जब प्रतीयमान का अर्थ का अतिशय नहीं होगा तब वह काव्य गुणीभूत-व्यंग्य हो जाता है। वस्तुतः "जब रसादि के तात्पर्य से काव्य का निबन्धन किया जाता है तब ध्वनि और गुणीभूत-व्यंग्य में कोई भेद नहीं रहता। इस प्रकार आनन्दवर्धन के रसादि के तात्पर्य की दृष्टि से गुणीभूत-व्यंग्य को ध्वनि रूप ही कहा है"—

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥

आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि-काव्य तीन प्रकार का होता है—वस्तुध्वनि अलंकारध्वनि और रस ध्वनि । इनमें रसध्वनि तो प्रतीयमान रूप है क्योंकि वह सदैव व्यंग्य रहता है कभी भी वाच्य नहीं होता है और वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि गुणीभूत-व्यंग्य होता है क्योंकि वह कभी-कभी वाच्य भी होता है ।

इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ कभी तो वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक होता है और कभी कम या बराबर । जब अधिक चमत्कारजनक होता है तब उसे 'ध्वनि' कहेंगे । और जब कम या बराबर की स्थिति में रहेगा तब गुणीभूतव्यङ्ग होता है । इसमें प्रतीयमान अर्थ तो सदैव रमणीय रहता है गुणीभूतव्यङ्ग्य भी ध्वनि का निष्यन्द रूप होने से अतिरमणीय होता है—

'अयं च ध्वनिनिष्यन्दभूतो द्वितीयोऽपि अतिरमणीयः लक्षणीयश्च सहृदयैः''

इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार गुणीभूत-व्यङ्ग्य और कुछ नहीं है, तो ध्वनि का निष्यन्द ही है । आकार भेद से काव्य भले ही अनेक प्रकार के होते हों, किन्तु आस्वाद के आधार पर वह एक ही प्रकार का होता है—'ध्वनि काव्य' । गुणीभूतव्यङ्ग्य तो ध्वनि का ही निष्यन्द है । वस्तुतः यह ध्वनि ही काव्य का परम अर्थ है, परम रहस्य है, काव्य की आत्मा है और वही परम रमणीय हुआ करता है । गुणीभूतव्यंग्य भी रसादि के तात्पर्य से नियोजित किये जाने पर ध्वनि रूप ही होता है, वह भी परमरमणीय होता है । ध्वनि-काव्य ही तो चमत्कार की बराबरी की स्थिति में गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है ।

लोचनकार अभिनवगुप्त ने भी लिखा है कि व्यङ्ग्य अर्थ जो काव्य में ललना के लावण्य के समान प्रसिद्ध है उसमें वाच्य की अपेक्षा चारुत्व का अतिशय होने पर 'ध्वनि' कहा जाता है और जब वह चारुत्व व्यंग्य अर्थ में अतिशय नहीं होता, बराबर की स्थिति में रहता है तब वह गुणीभूतव्यंग्य होता है । इस प्रकार गुणीभूत-व्यंग्य ध्वनि-काव्य से भिन्न नहीं कहा जा सकता । अतः ध्वनिवादियों के अनुसार 'ध्वनि-काव्य' ही काव्य की एकमात्र विधा है ।

१०—ध्वनिकार के पूर्व के ध्वनि विरोधी मतों का उल्लेख कीजिये और उसके समाधान के लिए आनन्दवर्धन द्वारा दिये गये तर्कों को प्रस्तुत कीजिये।

अथवा

आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती ध्वनि विरोधी मतों का उल्लेख करते हुए उसकी समीक्षा कीजिये।

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में ध्वनिविरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है। रुय्यककृत 'अलंकार-सर्वस्व' के टीकाकार जयरथ ने अपनी विमर्शिनी टीका में १२ ध्वनि-विरोधी मतों का उल्लेख किया है, किन्तु ध्वनिकार के द्वारा निर्दिष्ट तीन प्रकारों में ही इनका अन्तर्भाव हो जाता है, अतः उन्होंने केवल तीन मतों का ही उल्लेख किया है क्योंकि उस समय ये तीन विशिष्ट मत थे। वे निम्नलिखित हैं—

१—अभाववादी

२—भक्तिवादी

३—अलक्षणीयतावदी

१. अभाववादी मत

अभाववादी आचार्य ध्वनि का सर्वथा अभाव मानते हैं। वे ध्वनि की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि ध्वनि नामक कोई तत्त्व है ही नहीं। वे ध्वनि के अभाव को सिद्ध करने के लिए तीन विकल्प प्रस्तुत करते हैं—

(क) अभाववादियों के प्रथम दल का कथन है कि काव्य का तत्त्व (आत्मा) उसमें रहने वाला चारुत्व (सौन्दर्य) है। शब्द और अर्थ मिलकर काव्य के शरीर हैं। उसमें शब्दों को चमत्कृत करने वाले अनुप्रासादि अलंकार हैं और अर्थों को चमत्कृत करने वाले उपमा आदि अर्थालंकार प्रसिद्ध ही हैं। वर्णों और संघटना में चारुता के हेतु माधुर्यादि गुण कहे जा चुके हैं। वृत्तियों और रीतियों के द्वारा भी काव्य में चारुता आती है किन्तु ये अलंकार एवं गुणों से भिन्न नहीं होती। काव्य में चारुता उत्पन्न करने वाले ये दो तत्व हैं। इनसे भिन्न सौन्दर्य का हेतु ध्वनि नामक कोई वस्तु नहीं है।

"तत्र केचिदाचक्षीरन् शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्। तत्र च शब्दागताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनगरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिनर्मिति —(ध्वन्यालोक १।१ की वृत्ति)।

(ख) अभाववादियों के दूसरे दल का कथन है कि ध्वनि नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। क्योंकि काव्य का एक प्रसिद्ध मार्ग है। सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ से काव्य निर्मित होता है। काव्य के इस प्रसिद्ध प्रस्थान (मार्ग) का उल्लंघन करके अन्य किसी प्रस्थान को काव्य नहीं कहा जा सकता। गुण एवं अलंकारों से समन्वित काव्य ही सहृदयों को आह्लादित करने वाला काव्य कहा जाता है। यदि कोई अपने को सहृदय मानने वाले व्यक्ति ध्वनि को काव्य की संज्ञा दे भी दें तो वह सभी विद्वज्जनों को मान्य नहीं हो सकता।

"अन्ये ब्रूयुः—नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानिः। सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्त-प्रस्थानव्यतिरेकिणो मार्गस्य तत् सम्भवति।" —(ध्वन्यालोक १।१ की वृत्ति)

(ग) अभाववादियों के तीसरे दल का कहना है कि ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु होना सम्भव नहीं है, क्योंकि ध्वनि स्वतः काव्य में कमनीयता का हेतु है, चारुता उत्पन्न करने का साधन है। इस प्रकार काव्य में चारुता को उत्पन्न करने वाले गुण, अलंकार आदि जितने भी साधन हैं उन्हीं में कहीं इसका अन्तर्भाव हो जायगा। आपके गुण, अलंकार आदि में से किसी एक का नाम बदल कर ध्वनि रख देने से कौन-सी बड़ी बात हो गई। सहृदय विद्वान नई-नई विचित्रताओं वाले नये-नये सैकड़ों अलंकारों को प्रकाशित किये हैं किन्तु वे आपकी तरह नाचते नहीं हैं, जैसा कि आप सहृदयता की भावना से आँखें बन्द करके 'ध्वनि-ध्वनि' चिल्लाते हुए मदान्ध होकर नाच रहे हैं। इसका हम कोई कारण नहीं समझ रहे हैं। इस प्रकार आपका यह 'ध्वनि' बकवास मात्र है।

"पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः, न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्। कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात्। ....ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीक-सहृदयत्व-भावना-मुकुलित-लोचनैर्नृत्यते, तत्र हेतु न विद्मः। —(ध्वन्यालोक १।१ वृत्ति)

२. भक्तिवादी मत

भक्तिवादी आचार्य ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव कर लेते हैं। यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने न तो ध्वनि का उल्लेख किया है और न ध्वनि-काव्य को

गुणवृत्ति ही कहा है। फिर भी उन्होंने काव्यों में अभिधा व्यापार के अतिरिक्त एक अमुख्य व्यापार गुणवृत्ति (लक्षणा) को स्वीकार करके ध्वनि के मार्ग का थोड़ा स्पर्श करके भी उसका लक्षण नहीं किया। अर्थात् उन्होंने ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव कर लिया। अतः वे ध्वनि को 'भाक्त' कहते हैं।

"यद्यपि ध्वनिशब्द-संकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाग् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्, भाक्तमाहुस्तमन्ये।"

(ध्वन्यालोक १।१ की वृत्ति)

३. अलक्षणीयतावादी मत

अनिर्वचनीयतावादी आचार्य ध्वनि के अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं किन्तु वे उसे वागगोचर अर्थात् वाणी का विषय न मानकर सहृदयों द्वारा संवेद्य मानते हैं। उनका कहना है कि ध्वनि नामक तत्त्व तो है किन्तु उसे वाणी के द्वारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता अर्थात् उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। सहृदय व्यक्तियों द्वारा ही उसका अनुभव किया जा सकता है।

"केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः।"

(ध्वन्यालोक १।१ की वृत्ति)

इन तीनों ध्वनिविरोधी मतों पर विचार करने पर प्रतीत होता है कि इनमें अभाववादी आचार्य ध्वनि तत्त्व से सर्वथा अपरिचित हैं। लकीर के फकीर होने के कारण वे काव्य में किसी नवीन सिद्धांत के उद्गम व सन्निवेश के प्रबल विरोधी हैं। भक्तिवादी आचार्य ध्वनि के स्वरूप से तो परिचित हैं किन्तु सन्देह के कारण लक्षण में ही इसका अन्तर्भाव मानकर उसके स्वरूप को छिपाकर रखते हैं। तीसरे अनिर्वचनीयतावादी आचार्य ध्वनि के स्वरूप से परिचित तो हैं किन्तु अज्ञानता के कारण उसकी व्याख्या करना नहीं चाहते।

आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि विरोधी मतों का खण्डन

अभाववादी मत का खण्डन—

अभाववादी आचार्य अभिधावादी होने के कारण वाच्य-वाचक-भाव में ही काव्य का चारुत्व देखते हैं, किन्तु ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनि-लक्षण से ही अभिधावादी का उक्त मत खण्डित हो जाता है। आनंदवर्धन ने ध्वनि

का लक्षण किया है जहाँ पर वाच्य अपने को और वाचक शब्द अपने अर्थ को गौड़ बनाकर प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वही ध्वनि है। इस प्रकार अभिधावादी का वाच्यार्थ ध्वनिकाव्य में सर्वथा गौड़हो जाता है। जो अभाव-वादी गुण और अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव मानते हैं उनका मत भी इसी से खण्डित हो जाता है। क्योंकि गुण और अलंकार वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध पर आश्रित रहते हैं। किन्तु ध्वनि व्यंग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध पर आश्रित रहती है। इस प्रकार वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध पर आश्रित रहने वाले गुण एवं अलंकारों में व्यंग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध पर आश्रित ध्वनि का अंतर्भाव कैसे हो सकता है। समासोक्ति आदि कुछ अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ विद्यमान रहता है तो उसमें ध्वनि का अंतर्भाव हो जाना चाहिए। इस पर ध्वनिकार कहते हैं कि समासोक्ति आदि व्यंग्यमूलक अलंकार-ध्वनि के विषय नहीं होते, क्योंकि इनमें व्यंग्य की स्पष्ट प्रतीति होने पर भी व्यंग्यार्थ की प्रधानता नहीं रहती। यहाँ पर व्यंग्य वाच्य का अनुगमन करता है अतः यह गुणीभूत-व्यंग्य का विषय हो जाता है। अतः इन अलंकारों में भी ध्वनि का अंतर्भाव नहीं हो सकता।

भक्तिवादी मत का खण्डन—

भक्तिवादी आचार्य ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव करते हैं किन्तु ध्वनि (प्रतीयमान अर्थ) का लक्षणा में अंतर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि ध्वनि लक्ष्यार्थ से भिन्न होती है। लक्षणा मुख्यार्थ से सम्बन्ध अर्थ को प्रकट करती है किन्तु व्यञ्जना सर्वथा असम्बन्ध अर्थ को। लक्षणा के तीन कारण होते हैं—मुख्यार्थ-बाध, मुख्यार्थ के साथ अमुख्यार्थ का सम्बन्ध तथा रूढ़ि या प्रयोजन। किन्तु व्यंजना इससे सर्वथा विलक्षण है। व्यञ्जना मुख्य अर्थ से असम्बन्ध अर्थ को प्रकट करती है। दूसरे व्यञ्जना का क्षेत्र लक्षणा की अपेक्षा विस्तृत है। इसके अतिरिक्त लक्षणा केवल अभिधा (वाच्य) के आश्रित होती है किन्तु व्यंजना कभी तो अभिधा के आश्रित होती है और कभी लक्षणा के। अतः दोनों में पर्याप्त अन्तर होने के कारण लक्षणा में व्यंग्यार्थ (ध्वनि) का अंतर्भाव नहीं हो सकता।

अनिर्वचनीयतावाद का खण्डन—

अलक्षणीयतावादी आचार्यों का कथन है कि ध्वनि का वाणी के द्वारा

निर्वचन नहीं किया जा सकता अर्थात् ध्वनि सहृदय जनों द्वारा संवेद्य होने के कारण वाणी के अगोचर है। ध्वनिकार का कथन है कि अलक्षणीयतावादी आचार्यों का यह तर्क युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पहले कहे गए ध्वनि के सामान्य लक्षण और आगे कहे जाने वाले ध्वनि के विशेष लक्षण के प्रतिपादित किए जाने पर भी यदि ध्वनि को अनाख्येय (अनिर्वचनीय) कहा जा सकता है तो संसार की समस्त वस्तुएँ अनाख्येय हो जायेंगी, जब कि संसार की सभी वस्तुएँ शब्दगोचर (वर्णनीय) होती हैं—

"यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्य-विशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत् सर्वेषामेव वस्तूनां प्रसक्तम् ।

दूसरे, जो वस्तु विशिष्ट गुणों से युक्त होती है या सर्वोत्कृष्ट होती है उसे भी अनाख्येय, अवर्णनीय या अनिर्वचनीय कहने की परम्परा है जैसे वेदांती सर्वातिशायि (सर्वोत्कृष्ट) होने के कारण ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहते हैं। यदि अलक्षणीयतावादियों ने ध्वनि को अनिर्वचनीय कह दिया है तो इससे ध्वनि की उत्कृष्टता ही सिद्ध होती है।

और जो वे लोग अतिशयोक्ति के द्वारा ध्वनि को दूसरे काव्यों को अतिक्रमण करने वाले स्वरूप को कहते है वे भी ठीक ही कहते हैं क्योंकि यहाँ पर अतिशयोक्ति का अर्थ अतिशयोक्ति अलङ्कार नहीं, बल्कि 'अतिक्रांत करने वाला' विवक्षित है। यहाँ उपर्युक्त कथन का यह अभिप्राय है कि ध्वनि का काव्यशास्त्र में सर्वाधिक महत्त्व है, क्योंकि वह समस्त काव्यतत्त्वों का अतिक्रमण (अतिशय) करने वाला होता है।

इस प्रकार ध्वनि विरोधी मतों का खण्डन हो जाने पर ध्वनि की सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है। अतः ध्वनि का न तो अभाव ही माना जा सकता है और न गुण, अलंकार, लक्षणा आदि में किसी में अंतर्भाव ही माना जा सकता है। इसलिए ध्वनि को स्वतंत्र काव्य तत्त्व मानना युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है।

११—"ध्वन्यालोक' के अनुसार व्यंजना के स्वरूप पर प्रकाश डालिये।

आनन्दवर्धन के अनुसार शब्दशक्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं—

१—मुख्यवृत्ति (अभिधा)

२—गुणवृत्ति या भक्ति (लक्षणा)

३—व्यंजना या ध्वनि

अन्यशास्त्रों की वृत्तियाँ दो प्रकार की मानी गई हैं—मुख्य और अमुख्य। आनन्दवर्धन अमुख्यवृत्ति में व्यंजना' की एक कड़ी और जोड़कर तीन प्रकार की शब्दशक्तियाँ स्वीकार करते हैं—वाचकत्व, गुणवृत्ति और व्यंजकत्व—

"शब्दे व्यवहारे त्रयः प्रकाराः, वाचकत्वं गुणवृत्तिः व्यंजकत्वं चेति।

—(ध्वन्यालोक)

इनमें व्यंजकत्व को 'व्यंजना' कहते हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार 'व्यंजना' एक विलक्षण व्यापार है यह अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य व्यापारों से विलक्षण होता है—

"तदेवं गुणवृत्ति-वाचकत्वादिभ्यः शब्दप्रकारेभ्यः नियमेनैव तावद्विलक्षणं, व्यंजकत्वम्।"

(ध्वन्यालोक)

आनन्दवर्धन के अनुसार व्यंजना एक स्वतन्त्र व्यापार है। काव्यशास्त्र में व्यंजना के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ही हैं। उनका 'ध्वन्यालोक' काव्यशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है। आनन्दवर्धन ने ही सर्वप्रथम व्यंजना का स्वरूप खोजने का प्रयास किया है। ध्वन्यालोक में वस्तुव्यंग्य के प्रसंग में वे लिखते हैं—

"वस्तुचारुत्वप्रतीतये स्वशब्दानभिधेन यत्प्रतिपादयितुमिष्यते तद्व्यङ्ग्यम्।"

यहाँ पर उन्होने व्यंग्य अर्थ की परिभाषा दी है। आनन्दवर्धन के अनुसार 'व्यंग्य' केवल अर्थ होता है जबकि वैयाकरणों के यहाँ व्यंजक और व्यंग्य दोनों शब्द होते हैं। आनन्दवर्धन का यह व्यंग्य अर्थ की प्रथम अर्थ नहीं बल्कि प्रतीयमान अर्थ होता हैं। इस व्यंग्य अर्थ की सिद्धि व्यंजना के द्वारा होती है और व्यंजना की सिद्धि व्यंग्य के अधीन होती है—

'व्यंजकसिद्ध्यधीनं व्यंग्यत्वं व्यंग्यापेक्षया च व्यंजकत्वसिद्धिः।"

—(ध्वन्यालोक)

आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य में दो अर्थ होते हैं—एक वाच्य अर्थ और दूसरा व्यंग्य अर्थ। यही व्यंग्यार्थ प्रतीयमान अर्थ भी कहा जाता है। प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) का काव्य में वही स्थान है जो ललना में लावण्य का है। उपमा आदि अलंकार तो वाच्य-वाचक भाव पर आश्रित होते हैं किन्तु प्रतीययान अर्थ उससे विलक्षण होता है। प्रतीयमान अर्थ को वाच्य में विलक्षणता सिद्ध करने के लिए आनन्दवर्धन ने अनेकों उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। व्यंजना के

सिद्धि के पूर्व व्यंग्यार्थ की सिद्धि आवश्यक है क्योंकि व्यंजना की सिद्धि का आधार व्यंग्यार्थ ही है।

आनन्दवर्धन ने तीन प्रकार के व्यंग्यार्थ बताये हैं—वस्तुरूप, अलंकाररूप और रसादिरूप—

'स हि अर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रम्, अलंकार-रसादयश्च।

इसमें रसादिरूप व्यंग्य वस्तु और अलंकार रूप व्यंग्य से अलौकिक होता है। क्योंकि वह कभी भी स्वशब्दावाच्य नहीं होता, उसकी प्रतीति केवल व्यंजना व्यापार से होती है। व्यंग्यार्थ वाच्य से भिन्न होता है : वह कभी वाक्य के विधिरूप होने पर निषेध रूप होता है और कभी वाच्य के निषेध रूप होने पर विधिरूप होता है यहाँ वाच्यार्थ के विधि रूप होने पर व्यंग्यार्थ के निषेध रूप होने का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

"भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुंजवासिना दृप्तसिंहेन॥

गोदावरी नदी के तट किसी व्यभिचारिणी स्त्री का संकेतस्थल है। जब वह अपने प्रेमी से मिलने आती थी, उसी समय एक धार्मिक साधु भी गोदावरी में स्नान करने के लिये पहुँच जाया करता था। जिससे उसके प्रेम-मिलन में बाधा होती थी वहीं एक कुत्ता भी रहता था जो साधु को देखकर भूँकता था। एक दिन व्यभिचारिणी ने उस साधु से कहा—"हे धार्मिक ! अब तुम निश्चित होकर यहाँ घूमो, क्योंकि जो कुत्ता तुम्हें देखकर भूँकता था, उसे गोदावरी के कुञ्ज में रहने वाले उद्धत सिंह ने मार डाला।" यहाँ पर वाच्य भ्रमण रूप है अर्थात् अब तुम निश्चित होकर घूमो, अब कुत्ते से कोई भय नहीं है यह वाच्यार्थ है। किन्तु व्यंग्यार्थ है कि अब तुम यहाँ भूल करके भी मत आना, क्योंकि अब यहाँ सिंह रहने लगा है वह तुम्हें मार खायेगा। इस प्रकार यहाँ पर वाच्यार्थ विधि रूप है और व्यंग्यार्थ निषेध रूप।

अब व्यंग्यार्थ का वाक्यार्थ भिन्नता दिखाते हुए ध्वनिकार दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिसमें वाक्य निषेध रूप है और व्यंग्य विधि रूप—

"श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक ! रात्र्यन्ध शय्यायां मम नि मङ्क्ष्यति॥"

यहाँ पर कोई व्यभिचारिणी स्त्री किसी पथिक से कह रही है कि "हे रतौंधी वाले पथिक ! दिन में ही देख लो। यहाँ मेरी सास सोती है और यहाँ मैं। अतः हे रात्रि के अन्धे ! कहीं तुम मेरी खाट पर न गिर पड़ना।" इस उदाहरण में 'तुम मेरी खाट पर मत गिर पड़ना' यह निषेधरूप वाच्यार्थ है, किन्तु 'रात्रि में तुम मेरी खाट पर अवश्य आ जाना' यह विधिरूप व्यंग्यार्थ है।

अब ध्वनिकार तीसरा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें वाच्य विधिपरक है और व्यंग्य न तो विधिपरक है और न निषेधपरक—

"व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ॥"

यहाँ पर कोई नायिका खण्डिता नायक से कह रही है कि 'तुम उसी अपनी प्रेयसी के पास जाओ, मुझ अकेली को ही रोना और गहरी साँस लेना पड़े। कहीं इस दाक्षिण्य के कारण तुम्हें भी उसके वियोग में यह सब न भोगने पड़ जायँ।" यहाँ पर 'तुम उसी अपनी प्रेयसी के पास जाओ' यह वाच्यार्थ विधि-रूप है किन्तु 'नायिका का प्रगाढ़ कोप' व्यंग्य है जो न तो 'गमनरूप' विधि और न 'गमनाभावरूप' निषेध ही है।

आनन्दवर्धन का कहना है कि कहीं विषयभेद से भी वाच्य और व्यंग्य में पार्थक्य होता है। जैसे—

"कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥"

कोई व्यभिचारिणी स्त्री किसी परपुरुष से भोग कराकर लौटी है, उसने इसके अधर पर दन्तक्षत कर दिया है। नायिका जब अपने पति के सामने आती है और उसका पति उस पर क्रोध करता है तब उसकी सहेली उसके पति को सुनाती हुई कहती है कि "किसे अपनी पत्नी के दन्तक्षत को देखकर क्रोध नहीं आयेगा ? तुम्हारा स्वभाव ही भ्रमर से युक्त फूल सूँघने का है। तुम मना करने पर भी नहीं मानती, अब तुम इसका फल भोगो।" यहाँ पर वाच्य का विषय तो अपराधिनी नायिका है किन्तु व्यंग्य के विषयपति, सपत्नी, नायिका उपपति आदि अनेक हो सकते है। अतः यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न है।

इस प्रकार इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति जिस शक्ति के द्वारा होती है उसे 'व्यञ्जना' कहते हैं। जैसे 'गंगायां घोषः' इस उदाहरण में अभिधाशक्ति के

द्वारा प्रवाहरूप अर्थ और लक्षणाशक्ति के द्वारा तटरूप अर्थ का बोध होता है। उसके बाद 'शैत्य-पावनत्व' रूप जो अर्थ होता है उसे 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं और उसकी व्यञ्जक (प्रतीति कराने वाली) शक्ति को 'व्यञ्जक' कहते हैं।

अभिनवगुप्त का कहना है कि व्यंग्यार्थ के प्रतिपादन में अभिधा और लक्षणा का कोई हाथ नहीं होता; क्योंकि अभिधा तो व्यंग्यार्थ के बोध कराने में इसलिए समर्थ नहीं है कि व्यंग्यार्थ संकेतित अर्थ नहीं होता और अभिधा संकेतित अर्थ का बोध कराती है। लक्षणा का विषय इसलिए नहीं है कि उसके लिए यहाँ न रूढ़ि है और न प्रयोजन। तात्पर्य वृत्ति का विषय इसलिए नहीं है कि व्यंग्यार्थ अन्वित अर्थ नहीं होता; बल्कि वह लोकोत्तर कमनीय अर्थ होता है। अतः वह व्यञ्जना व्यापार ही है जो व्यंग्यार्थ के बोध कराने में समर्थ है।

व्यंजनाशक्ति के दो भेद होते हैं—

१. अभिधामूला (शाब्दी-व्यञ्जना)

२. आर्थी व्यञ्जना।

१. अभिधामूला (शाब्दीव्यंजना)—जहाँ पर संयोग-विप्रयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्द के किसी एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर वाच्यार्थ से विलक्षण जो अन्य अर्थ की प्रतीति होती है उस अन्य अर्थ को बोध कराने वाली शक्ति को 'शाब्दी व्यंजना' कहते हैं। आचार्य मम्मट वस्तुरूप शाब्दी-व्यंजना का उदाहरण निम्न प्रकार देते हैं—

"पथिक ! नात्र स्रस्तरमस्ति मानक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वसति तद् वस।"

कोई नायिका किसी पथिक से कह रही है 'हे पथिक ! यहाँ इस पहाड़ी गाँव में बिछाने के लिए तनिक भी विस्तर नहीं मिल सकता, किन्तु उमड़ते हुए बादलों को देखकर यदि ठहरना चाहो तो ठहर जावो" यह उपर्युक्त श्लोक का वाक्यार्थ है। इसमें 'स्रस्तर, 'पयोधर' आदि अनेकार्थक हैं ! ये बिस्तर, मेघ आदि अर्थ में नियन्त्रित है किन्तु व्यंजना शक्ति से इसका एक अन्य अर्थ भी निकलता है जो व्यंग्यार्थ है—'हे पथिक ! इस पत्थर के सामन मूर्ख (जड़) व्यक्तियों के गाँव में परस्त्री सम्भोग के निषेधार्थक कोई भी शास्त्र नहीं है, इसलिए तुम रे उठे हुए पयोधर (स्तनों, उरोजों) को देखकर यदि रुकना

चाहो तो रुक सकते हो।" अर्थात् 'यदि तुझमें उठते जीवन के उपभोग की शक्ति हो तो ठहर जाओ' यह वस्तु व्यक्त होती है।

२. आर्थी व्यंजना—काव्य रसिकों को वक्ता आदि के वैलक्षण्य के कारण वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ को बोध कराने वाली शक्ति को 'आर्थी व्यंजना' कहते हैं। यह वक्ता, बोद्धव्य, काकु, आदि के वैशिष्ट्य से दस प्रकार की होती हैं। प्रकार भेद से इसके अनेक उदाहरण हैं, किन्तु यहाँ हम केवल एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम्।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम्॥"

कोई नायिका पानी भरने के बहाने अपने प्रेमी के साथ भोग करके आ रही है, उसके मुखादि पर संभोग के सूचक पसीने की बूंद झलक रही हैं। नायिका उस चौर्यरत भोग को छिपाने के लिए अपनी सखी से कह रही है 'सखि' मैं पानी से भरे विशाल घड़े को लेकर जल्दी-जल्दी आ रही हूँ थकावट के कारण पसीने की बूंदें और निःश्वास से परेशान हूँ, इसलिए थोड़ी देर विश्राम करूँगी, यहाँ पर नायिका वक्तृ-वैशिष्ट्य से चौर्यरत को छिपाने की प्रयास कर रही है।

१२—क्या व्यंजना का अभिधा में अन्तर्भाव हो सकता है? मीमांसकों के मत की समीक्षा कीजिये और व्यंजना की आवश्यकता बताइए।

अथवा

अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिवाद के मतों का उल्लेख करते हुए व्यंजना की आवश्यकता पर प्रकाश डालिये।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन वाच्य और प्रतीयमान रूप दो अर्थों को स्वीकार करते हैं। उनमें प्रतीयमान अर्थ को वे वाच्यार्थ से सर्वथा विलक्षण मानते हैं और उसे ही काव्य का सारभूत तत्त्व कहते हैं। उन्होंने प्रतीयमान अर्थ को ललना के लावण्य के समान बताया है। उनका यह प्रतीयमान अर्थ व्यंग्य रूप है इसी को वे व्यंग्यार्थ कहते हैं। यद्यपि व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाक्यार्थ के ज्ञान के अनन्तर ही होती है फिर भी वे व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न मानते हैं। व्यंग्यार्थ का वाक्यार्थ से पार्थक्य प्रतिपादन करने लिए के वे

अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते है। उनका कहना है कि कहीं पर वाच्यार्थ के विधि रूप होने से व्यंग्यार्थ निषेध रूप होता है। इसका उदाहरण वे देते हैं—

भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुन्जवासिना दृप्तसिंहेन॥

यहाँ कोई व्यभिचारिणी स्त्री किसी साधु से कह रही है कि हे 'धार्मिक! तुम यहाँ निश्चिन्त होकर घूमो, क्योंकि जो कुत्ता तुम्हें देखकर भूँकता था उस कुत्ते को गोदावरी के कुन्ज में रहने वाले मदमत्त सिंह ने मार डाला।' यहाँ पर 'हे धार्मिक! विश्वस्त होकर घूमो।' यह वाक्य विधि रूप वाच्यार्थ है, किन्तु नायिका का अभिप्राय यह है कि 'अब तुम यहाँ भूलकर मत आना क्योंकि यहाँ अब उद्धत शेर आगया है, वह तुझे मार खाएगा, यह वाक्य निषेध रूप व्यंग्यार्थ है। अर्थात् भ्रमणरूप जो विधिवाक्य है वह वाच्यार्थ है और भ्रमणभाव रूप निषेधवाक्य व्यंग्यार्थ है। वाच्यार्थ की सिद्धि तो अभिधा शक्ति से हो जाती है किन्तु व्यंग्यार्थ की सिद्धि अभिधा से नहीं हो सकती, अतः उसके लिए व्यंजना-व्यापार की आवश्यकता है।

मीमांसक लोग अभिधावादी होते हैं। उनका कहना है कि "भ्रम धार्मिक विश्रब्धः" में व्यंग्य अर्थ की प्रतीति अभिधा से हो सकती है अतः उसके लिए व्यंजनावृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। ध्वनिवादियों का कहना है कि विधि और निषेध रूप अर्थ परस्पर विरोधी होने के कारण न तो एक साथ ही वाच्य हो सकते है और न क्रमशः। क्योंकि अभिधा के एक बार वाच्यार्थ के बोध कराने के पश्चात् विराम हो जाने पर पुनः उसका व्यापार नहीं होता (**विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे**)। प्रस्तुत उदाहरण में विधिरूप अर्थ विशेषण है और निषेध रूप अर्थ विशेष्य। इस प्रकार विशेषण (विधिरूप अर्थ) के बोध कराने में क्षीणशक्ति हो जाने से अभिधा विशेष्य (निषेध रूप अर्थ) को बोध नहीं करा सकती। दूसरे अभिधा साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराती है। प्रस्तुत उदाहरण में विधिरूप अर्थ संकेतित अर्थ है अतः उसका बोध अभिधा से ही जायगा किन्तु निषेध रूप अर्थ का बोध अभिधा से नहीं होगा। अतः उसके लिए व्यंजना की आवश्यकता है।

मीमांसकों का कहना है कि व्यंजना नामक कोई व्यापार नहीं होता। 'भ्रम धार्मिक' में निषेध रूप द्वितीय अर्थ को व्यंग्य अर्थ क्यों माना जाय?

क्योंकि उनके अनुसार वाक्य का जितने अर्थ की प्रतीति के लिए प्रयोग किया जाता है वह समस्त तात्पर्य का विषय होने से मुख्यार्थ ही है अतः उसका बोध अभिधा के द्वारा ही हो जाएगा। अतः उसके लिए व्यञ्जना-वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता है ? ध्वनिकार अभिधा तथा व्यञ्जना में पार्थक्य बताते हुए कहते हैं कि अभिधाव्यापार तथा व्यञ्जनाव्यापार दोनों में परस्पर विषयभेद है और रूपभेद भी है—

"तौ द्वौ व्यापारौ भिन्नविषयौ भिन्नरूपौ च प्रतीयेत एव।"

(ध्वन्यालोक)

ध्वनिकार दोनों के विषयभेद का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में परस्पर नितान्त भेद होता हैं अतः दोनों अर्थों को प्रतीति कराने वाले दोनों व्यापारों (अविधा और लक्षणा) में भी भेद होगा। वाच्यार्थ तो सभी के प्रति एक होता है किन्तु व्यंग्यार्थ विषयानुसार अलग-अलग हो जाता है। ध्वनिकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की भिन्न विषयता का उदाहरण देते हैं—

"कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्मघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम्॥"

प्रस्तुत उदाहरण में कोई सखी नायिका के परपुरुष-सम्भोग को छिपाने के लिए बहाना बना रही है। यहाँ पर वाच्यार्थ तो सभी व्यक्तियों के लिए एक सा होगा, किन्तु व्यंग्यार्थ विषयभेद से अलग-अलग हो जायगा अर्थात व्यंग्यार्थ उसके पति के विषय में होगा, सौत के सम्बन्ध में और होगा, उपपति के सम्बन्ध में और होगा, पड़ोसी तथा तटस्थ व्यक्तियों के सम्बन्ध में और होगा।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के अनुसार व्यंग्यार्थ बदल जायगा। जब दोनों के वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में अन्तर हो गया तो उसकी बोधक शक्ति में भी अन्तर हो जायगा। दूसरे वाच्यार्थ का शब्द से साक्षात् सम्बन्ध होता है और व्यंग्यार्थ का साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से आक्षिप्त होता है।

अभिधा और लक्षणा दोनों व्यापारों में स्वरूप भेद भी होता है। यदि दोनों में भिन्नता नहीं होती तो जो वाचक शब्द होता वही व्यंजक शब्द हो जाता और जो व्यंजक शब्द होता वही वाचक शब्द हो जाता। किन्तु ऐसा होता नहीं है। क्योंकि वाचक शब्दों से व्यंजकता नहीं रहती और व्यंजक

शब्दों में वाचकता नहीं होती। दूसरे ध्वनिकार ने वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के स्वरूपभेद के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनसे अभिधा और लक्षणा में भिन्नता सिद्ध होती है।

ध्वनिकार का कहना है कि शब्द का स्वार्थ (वाच्यार्थ) के साथ नियत-सम्बन्ध होता है और शब्द एवं अर्थ का व्यंग्यार्थ के साथ औपाधिक सम्बन्ध होता है अर्थात् व्यंग्यार्थ प्रतीति में प्रकरणादि या वक्तृबोद्धव्यादि वैशिष्ट्य उपाधि है। जैसे "कस्य वा न भवति रोषः" इस वाक्य में बोद्धव्य के वैशिष्ट्य के कारण ही मुख्यार्थ से भिन्न एक अन्य अर्थ (व्यंग्यार्थ) की प्रतीति करता है। इसमें अन्यसन्निधि रूप उपाधि है। यदि कोई श्रोता पास में न हो तो इसमें कोई व्यंजकत्व नहीं रहेगा। व्यंजकत्व का शब्द के साथ तो अनियतसम्बन्ध होता है किन्तु व्यंग्यार्थ के साथ तो उसका नियत सम्बन्ध ही होगा। इस प्रकार शब्द के साथ नियत सम्बन्ध रखने वाले वाचकत्व से शब्द के साथ अनियत सम्बन्ध वाला व्यंजकत्व नितान्त भिन्न होता है।

मीमांसकों में मुख्यतः दो सम्प्रदाय हैं—भाट्टसम्प्रदाय और प्रभाकर सम्प्रदाय। भाट्टसम्प्राय के प्रमुख आचार्य कुमारिलभट्ट हैं। ये अभिहितान्वय-वादी है। प्रभाकर सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य प्रभाकर गुरु एवं सालिकनाथ मिश्र हैं। ये अन्विताभिधानवादी हैं।

अभिहितान्वयवाद—अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के अनुसार किसी पद का अर्थ पहले अभिधाशक्ति से अभिहित होता है, बाद में उन अर्थों को आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के आधार पर सम्बद्ध रूप में समझा जाता है। यह सम्बद्ध रूप पदार्थबोध वाक्यार्थ बोध कहलाता है, इसी को 'तात्पर्यार्थ' कहते हैं। इस प्रकार उनके मत में वाक्यार्थ ज्ञान के लिए तात्पर्या वृत्ति की आवश्य-कता होती है। ध्वनिवादियों का कहना है कि अभिहितान्वयवाद में अभिहि-तान्वयवादी जब वाक्यार्थ-ज्ञान को भी अभिधा से प्रतिपादित नहीं कर सकते और उसके लिए तात्पर्या-वृत्ति स्वीकार करते हैं तो व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा से कैसे होगी! अतः उनके मत में भी अतिविशेषभूत व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यंजना की आवश्यकता है।

अन्विताभिधानवाद—प्रभाकरभट्ट के अनुयायी मीमांसक तात्पर्या शक्ति को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि अभिधाशक्ति के द्वारा अन्वित पदार्थ ही उपस्थित होता है अतः अन्वयबोध के लिए तात्पर्या शक्ति मानने की कोई

आवश्यकता नहीं है। उनके मत में पदार्थ-बोध संकेतग्रह से होता है और संकेत ग्रह का आधार है 'व्यवहार'। अन्विताभिधानवादी सामान्य रूप से अन्वित पदार्थ में संकेतग्रह मानते हैं। अतः अभिधा के द्वारा सामान्य रूप से अन्वित पदार्थ का बोध तो हो जायगा किन्तु 'अतिविशेष' अर्थ का ज्ञान अभिधा से कैसे होगा ? अतः उसके लिए तात्पर्या या अन्य कोई शक्ति माननी पड़ेगी। इस प्रकार जब अतिविशेष रूप वाक्यार्थ की प्रतीति भी अभिधा से नहीं हो सकती तो व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा से कैसे होगी ? अतः उसके लिए व्यंजना शक्ति का मानना आवश्यक है।

नैमित्तिकवादी मीमांसकों का कहना है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति किसी निमित्त मे होती है और शब्द के अतिरिक्त कोई निमित्त होता ही नहीं, शब्दार्थ को बोध कराने वाली शक्ति अभिधा है। अतः अभिधा से ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जायगी, उसके लिए व्यंजना शक्ति मानने की क्या आवश्यकता है ? व्यंजनावादियों का कहना है कि निमित्त दो प्रकार का होता है—कारक और ज्ञापक। चूँकि शब्द अर्थ का ज्ञापक होता है अतः वह कारक नहीं हो सकता। और ज्ञापक भी नहीं हो सकता, क्योंकि जो वस्तु अज्ञात है उसकी ज्ञापकता कैसी ? ज्ञान तो संकेतग्रह में होता है और संकेतग्रह अन्वितमात्र में होता है विशेष में नहीं। अतः जब तक शब्दरूप निमित्त का विशेष के साथ सकेतग्रह नहीं होगा, तब तक नैमित्तिक (व्यंग्यार्थ) की प्रतीति कैसे हो सकती है ? अतः केवल अन्वितमात्र में संकेतग्रह होने से व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा नहीं हो सकता। उसके लिए व्यंजना की आवश्यकता है।

अन्विताभिधानवादी भट्टलोल्लट मतानुयायी मीमांसक 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' तथा 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' ये युक्तियाँ देकर व्यंजना वृत्ति का 'अभिधावृत्ति' में समावेश करते हैं। उनका कहना है कि जिस तात्पर्य से शब्द का प्रयोग किया जाता है वही उसका अर्थ होता है। (यत्परः शब्दः स शब्दार्थः)। जैसे यदि किसी वाक्य में व्यंग्य अर्थ की प्रतीति के लिए शब्दों का प्रयोग है तो व्यंग्यार्थ ही उन शब्दों का अर्थ होगा। अतः इस नियम के अनुसार व्यंग्यार्थ अभिधाजन्य होगा। रस का खण्डन करते हुए ध्वनिवादी कहते हैं कि 'अदग्धदहनन्याय' से जहाँ जितना अंश अप्राप्त होता है वहाँ उतने का ही विधान होता है अतः अप्राप्त अंश के विधान में ही विधिवाक्य का तात्पर्य होता है और वही उसका प्रतिपाद्य अर्थ होता है। यही 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः

का तात्पर्य है न कि लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ को वाच्य मानना। 'भतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इस वाक्य का भी यही अभिप्राय है। जैसे श्येनयाग प्रकरण में एक वाक्य आया है—'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' अर्थात् 'लाल पगड़ी वाले ऋत्विज विचरण कर रहे हैं'। ज्योतिष्टोमयाग प्रकरण में कहा गया है 'सौष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' अर्थात् पगड़ी वाले ऋत्विज विचरण कर रहे हैं। इस प्रकार पगड़ी, ऋत्विज और विचरण ये तीनों प्राप्त हैं, अतः केवल 'पगड़ी की लाली' अप्राप्त होने के कारण विधेय अंश है। उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जो विधेय होता है उसी में तात्पर्य माना जाता है।

भट्टलोल्लट का कहना है कि जिस प्रकार धनुर्धर द्वारा छोड़ा गया एक ही बाण कवच-भेदन, उरोविदारण और प्राणविमोचन तीनों कार्यों को करता है उसी प्रकार अभिधाशक्ति ही वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीनों प्रकार के अर्थों को बोध कराती है। अतः व्यंजना की कोई आवश्यकता नहीं। इसका उत्तर देते हुए व्यंजनावादी कहते हैं कि यदि सभी अर्थों को अभिधा-जन्य मान लेंगे तो **'ब्राह्मण ते पुत्रो जातः, कन्या ते गर्भिणी जाता'** इस वाक्य के सुनने के बाद जो हर्ष, शोकादि की प्रतीति होती है उसे भी वाच्य (अभिधेय) रूप मानना पड़ेगा। दूसरे मीमांसक यदि अभिधाशक्ति से ही सारे काम चला लेते हैं तो लक्षणा वृत्ति भी क्यों मानते हैं। तीसरे **'श्रुति-लिङ्ग-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम्'** इस वाक्य में उत्तर-उत्तर को दुर्बल और पूर्व-पूर्व को प्रबल माना गया है, यह वाक्य युक्तिसंगत नहीं होगा। क्योंकि सभी अर्थों को अभिधा जन्य मानने पर उस अर्थ की प्रतीति में पूर्वापर का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः मीमांसाशास्त्र से उक्तसूत्र में बलाबल का जो निर्णय किया गया है वह निष्फल हो जायगा। अतः उक्त सिद्धान्त ठीक नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन का यह निष्कर्ष है कि व्यंग्य अर्थ की सिद्धि अभिधा से नहीं हो सकती। अतः उसके लिए व्यंजनाव्यापार मानना आवश्यक है। अभिधा के द्वारा व्यंजना का कार्य नहीं चल सकता और न व्यंजना का अभिधा में अन्तर्भाव ही हो सकता। अतः व्यंजना-वृत्ति को मानना ही पड़ेगा।

१३—'क्या व्यंजना का लक्षणा में अन्तर्भाव हो सकता है' इस कथन की समीक्षा कीजिए और दोनों के मध्य अन्तर स्थापित कीजिए।

अथवा

लक्षणा और व्यंजना के मध्य भेद स्पष्ट कीजिए और यह सिद्ध कीजिए व्यंजना मानना आवश्यक है ?

काव्यशास्त्र में शब्द शक्तियों पर विचार सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने किया है। काव्यशास्त्र से भिन्न शास्त्रों में दो प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख है— मुख्य और अमुख्य। इनमें अमुख्य वृत्ति को दो प्रकार का बताया गया है— गुणवृत्ति और भक्ति या लक्षण। किन्तु आनन्दवर्धन गुणवृत्ति और भक्ति को एक ही मानते हैं। उन्होंने लक्षणा के लिए गुणवृत्ति शब्द का प्रयोग किया है और गुणवृत्ति को ही वे 'भक्ति' कहते हैं तथा शक्ति अर्थात् लक्षणा से प्रतीत होने वाले अर्थ को उन्होंने 'भाक्त' या 'लाक्षणिक' कहा है। उन्होंने ध्वन्यालोक में भक्तिवादियों (लक्षणावादियों) के मत का उल्लेख किया है। लक्षणावादियों के अनुसार व्यंग्यार्थ की प्रतीति लक्षणा के द्वारा हो जाती है। वे व्यंजना (ध्वनि) को लक्षणा के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। इनका कहना है कि व्यंजना का अन्तर्भाव लक्षणा में हो सकता है। आनन्दवर्धन का कहना है कि भक्तिवादी आचार्य भक्ति अर्थात् लक्षणा से प्रतीत होने वाले अर्थ को 'भाक्त' अर्थात् लाक्षणिक कहते हैं—

"भाक्तमाहुस्तथान्ये" (ध्वन्यालोक १।१)

लोचनकार अभिनवगुप्त ने लक्षणा के पाँच प्रकार निर्दिष्ट किये हैं—

अभिधेयेन सामीप्यात्सारूप्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पंचधा मता॥

अर्थात् अभिधेय के साथ सामीप्य सम्बन्ध से, सारूप्य सम्बन्ध से, समवाय सम्बन्ध से, वैपरीत्य सम्बन्ध से और क्रिया के योग से लक्षणा पाँच प्रकार की होती है—

आनन्दवर्धन ने गुणवृत्ति से भक्ति को अभिन्न मानकर भक्ति को उपचाररूप मानते हैं—

(१) 'उपचारमात्रं तु भक्ति" (ध्वन्यालोक)
(२) "गुणवृत्तिः····अभेदोपचाररूपा" (ध्वन्यालोक)
(६) यापि लक्षणरूपा गुणवृतिः" (ध्वन्यालोक)

आलङ्कारिक लक्षणा के दो भेद करते हैं—शुद्धा तथा गौणी। किन्तु मीमांसक गौणी लक्षणा को गौणी वृत्ति के नाम से अलग वृत्ति मानते हैं। मीमांसकों के प्रभाव के कारण ही ध्वनिकार आनन्दवर्धन भी लक्षण के लिए 'गुणवृत्ति' शब्द का प्रयोग करते हैं। लोचनकार अभिनवगुप्त 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से करते हैं। जिसके कारण 'भक्ति' शब्द से लक्षणा और

गौणीवृत्ति इन दोनों का ही ग्रहण होता है तथा लक्षणा के हेतुत्रय का भी ग्रहण होता है। अभिनवगुप्त द्वारा की गई 'भक्ति' की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार है—

१—**'मुख्यार्थस्य भङ्गो भक्तिः'** अर्थात् मुख्य अर्थ का बाधित होना 'भक्ति' है। इस व्युत्पत्ति से लक्षण के प्रथम बीज 'मुख्यार्थ-बाध' का ग्रहण होता है।

२—**भज्यते सेव्यते पदार्थेन इति सामीप्यादिधर्मः भक्तिः"** अर्थात् पदार्थ के द्वारा जिसका सेवन किया जाता है, उन सामीप्यादि-धर्मों को 'भक्ति' कहते हैं। इस व्युत्पत्ति से लक्षणा के द्वितीय बीज 'मुख्यार्थ-सम्बन्ध' का ग्रहण होता है।

३—**प्रतिपाद्ये सामीप्य-तैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः भक्तिः"** अर्थात् प्रतिपादनीय सामीप्य, तैक्ष्ण्य (तीक्ष्णता) आदि में श्रद्धा की अधिकता को 'भक्ति' कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के द्वारा लक्षणा के तृतीय बीज 'प्रयोजन' का ग्रहण होता है।

इस प्रकार 'भक्ति' से लक्षणा के तीनों बीजों मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ सम्बन्ध तथा प्रयोजना का ग्रहण होता है। और इन तीनों बीजों से (भक्ति) से जिस अर्थ का ग्रहण होता है उसे 'भक्ति' कहते हैं। इसके अतिरिक्त मीमांसकों की 'गौणी-वृत्ति' भी 'भक्ति' पद से गृहीत होती है। उक्त तीनों व्युत्पत्तियों के अतिरिक्त चौथी व्युत्पत्ति भी है—

"गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिः भक्तिः"

अर्थात् गुणसमुदाय में रहने वाले शब्द का तैक्ष्णता (तीक्ष्णता) आदि जो अर्थ भाग है उसे 'भक्ति' कहते हैं। उससे गृहीत गौण अर्थ को 'भाक्त' कहते हैं। लक्षणावादी आचार्य व्यंग्यार्थ को व्यंजनागम्य नहीं मानते बल्कि भक्ति (लक्षणा) या गौणवृत्ति से बोध्य मानते हैं। अतः वे व्यंजना (ध्वनि) को लक्षणा के अन्तर्गत गृहीत कर लेते हैं इसलिए वे ध्वनि को 'भाक्त' कहते हैं।

इस प्रकार लक्षणावादियों के अनुसार वाच्यार्थ से भिन्न सभी अर्थों का बोध भक्ति, लक्षणा या गुणवृत्ति से हो जाती है क्योंकि वे ध्वनि (व्यंजना) को लक्षणा में समाविष्ट करते हैं। 'भक्ति' पद के समान 'गुणवृत्ति' शब्द के भी तीन अर्थ होते हैं—

१—**"गुणाः सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादयश्च। तैरुपायैरर्थान्तरे वृत्तिर्यस्य स गुणवृत्तिः शब्दः"** हैं। अर्थात् जो शब्द सामीप्य आदि तथा तीक्ष्णता आदि उपायों से दूसरे अर्थ का बोध कराता है, उस शब्द को 'गुणवृत्ति' शब्द कहते हैं। इससे 'लक्षक' शब्द का ग्रहण होता है।

२—"तैरुपायैः शब्दस्य वृत्तिः यत्रः सः गुणवृत्तिः अर्थः" अर्थात् जो अर्थ उन सामीप्यादि उपायों से बोधित होता है उस अर्थ को 'गुणवृत्ति अर्थ' कहते हैं। इससे 'लक्ष्यार्थ' का बोध होता है।

—"गुणद्वारेण वा वर्त्तनं गुणवृत्तिरमुख्याऽभिधा व्यापारः" अर्थात् जो व्यापार गुणों के द्वारा प्रवर्त्तित होता है, उस व्यापार को 'अमुख्य अभिधा' (लक्षणा) व्यापार कहते हैं।

इस प्रकार गुणवृत्ति से लक्षक शब्द, लक्ष्यार्थ और लक्षणा व्यापार तीनों का ग्रहण होता है। जिस प्रकार 'भक्ति' और गुणवृत्ति' शब्दों के तीन-तीन अर्थ होते हैं उसी प्रकार 'ध्वनि' के भी तीन अर्थ होते हैं—

१—"ध्वनति इति ध्वनिः' अर्थात् जो ध्वनित होता है, इस व्युत्पत्ति से व्यंजक शब्द का ग्रहण होता है।

२—ध्वन्यते इति ध्वनिः' अर्थात् जो ध्वनित किया जाता है, इस व्युत्पत्ति से व्यंग्यार्थ का बोध होता है।

३—"ध्वननमिति ध्वनिः' अर्थात् जिसके द्वारा ध्वनित होता है, इस व्युत्पत्ति से व्यंजना व्यापार का ग्रहण होता है।

इस प्रकार 'ध्वनि' शब्द से व्यंजक शब्द, व्यंग्यार्थ तथा व्यंजना तीनों का ग्रहण होता है और ध्वनि के तीनों अर्थ गुणवृत्ति के तीनों अर्थ में ही गतार्थ हो जाते हैं। अतः ध्वनि को गुणवृत्ति में ही सन्निविष्ट किया जा सकता है। उसके लिए व्यंजना-व्यापार मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

लक्षणावादी आचार्य व्यंजन को अलग वृत्ति स्वीकार नहीं करते। वे लक्षणा में व्यंजना का अन्तर्भाव कर लेते हैं। लक्षणवादियों का कहना है कि जो लक्षण और व्यंजना में बहुत सी बातें समान पाई जाती हैं। आनन्दवर्धन लक्षणवादियों का मत खण्डन करने के लिए तीन विकल्प प्रस्तुत करते हैं—

१—क्या लक्षणा और ध्वनि (व्यंजना) दोनों पर्याप्त वाचक हो सकते हैं?

२—क्या लक्षणा को ध्वनि का लक्षण माना जा सकता है?

३—क्या लक्षणा ध्वनि का उपकरण है?

प्रथम पक्ष का खण्डन करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं कि ध्वनि लक्षणा का पर्याय नहीं हो सकती, क्योंकि लक्षणा और ध्वनि में परस्पर रूपभेद और विषयभेद है—

'भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः''

(ध्वन्यालोक १।१४)

अर्थात् ध्वनि भक्ति (लक्षणा) के साथ एकत्व को धारण नहीं करती क्योंकि दोनों में भिन्न रूप होता है। ध्वनि वहाँ होती है जहाँ वाच्य और वाचक के द्वारा वाच्य से भिन्न अर्थ का तात्पर्य के द्वारा प्रकाशन होता है वहाँ व्यङ्ग्य के प्रधान होने पर ध्वनि होती है। लक्षणा तो केवल उपचारमात्र होती है। इस प्रकार दोनों के रूप भिन्न होने से पर्यायवाची नहीं हो सकते।

लक्षणावादियों के दूसरे विकल्प का खण्डन करते हुए ध्वनिकार कहते हैं कि लक्षणा ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती क्योंकि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने पर अति-व्याप्ति दोष उपस्थित होते हैं—

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया।''

(ध्वन्यालोक १।१४)

जहाँ पर लक्षणा लक्ष्य से अतिरिक्त स्थलों पर भी घटित हो वहाँ 'अति-व्याप्ति' दोष होता है। जैसे—

''कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति विसिनीपत्रशयनम्''

इस उदाहरण में कमलिनी पत्र की शय्या कह रही है? इस वाक्य में 'वदति (कहना) चेतन का धर्म है, क्योंकि शय्या अचेतन होने के कारण कहने का काम नहीं कर सकती। इस प्रकार वाच्यार्थ के बाधित होने से लक्षणा के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध 'प्रकटयति' यह लक्ष्यार्थ होता है। कहते हैं कि यहाँ पर यदि 'वदति' के स्थना पर 'प्रकटयति' का ही प्रयोग कर देते हैं तो क्या 'अचारुता' आ जाती? और उक्त प्रकार से गूढ़ रूप से कहने पर ही कौन-सी 'चारुता' आ गई। इस प्रकार सौन्दर्य के अभाव में यह ध्वनि का विषय नहीं बनता। क्योंकि ध्वनि तो वहाँ होती है जहाँ पर शब्द से चारुतापूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार यहाँ ध्वनि (व्यंग्यार्थ) न होने पर भी लक्षणा है। यदि लक्षणा को ध्वनि का लक्षण मान लिया जाता तो यहाँ पर अतिव्याप्ति दोष आ जायगा। लक्षणा को ध्वनि का लक्षण मानने पर 'अव्याप्ति' दोष भी है, क्योंकि 'विवक्षितापरवाच्यध्वनि' में लक्षणा के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोष के कारण लक्षणा को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते।

ध्वनिकार लक्षणावादियों के तीसरे विकल्प का खण्डन करते हैं। ध्वनि के जो अनेक भेद बताये जायेंगे, उसमें लक्षणा किसी एक भेद का उपलक्षण हो सकती है किन्तु ध्वनि के समस्त भेदों का उपलक्षण नहीं हो सकती—

"कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्वादुपलक्षणाम्।"

कहते हैं कि यदि किसी भेद में लक्षणा हो भी जाय तो इससे ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव थोड़े हो जायगा।

ध्वनिकार का कहना है कि अलंकारों के अनुसार लक्षणा दो प्रकार की होती है—रूढ़ा और प्रयोजनवती। इनमें रूढ़ा लक्षणा में प्रयोजन (व्यंग्यार्थ) का सर्वथा अभाव होता है अतः यह किसी भी ध्वनि का विषय नहीं बन सकती प्रयोजनावादी लक्षणा में प्रयोजन (व्यंग्य) तो रहता है किन्तु इसकी प्रतीति व्यंजना से होती है, लक्षणा के द्वारा उस व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती। ध्वनिकार कहते हैं कि 'जिस फल को लक्ष्य करके मुख्यवृत्ति (अभिधा) को छोड़कर गुणवृत्ति (लक्षणा) से जिस अर्थ का बोध कराया जाता है, उस फल को द्योतित करने में स्खलद्गति (बधितार्थ) नहीं है"—

मुख्यां वृत्ति परित्यज्य गुणवृत्यार्थदर्शनात।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः॥

(ध्वन्यालोक १।१७)

भाव यह है कि जैसे 'गंगायां घोषः' इसी उदाहरण में 'गंगा' पद का अर्थ 'गंगा-प्रवाह' है। चूँकि गंगा के प्रवाह में अहीर नहीं रह सकते, अतः प्रवाह रूप अर्थ बाधित होता है। इसलिए लक्षणा के द्वारा 'तटरूप' अर्थ का ग्रहण होता है। यहाँ पर लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ से सामीप्य सम्बन्ध है। शैत्य-पावनत्व रूप प्रयोजन (व्यंग्यार्थ) की प्रतीति व्यंजना के द्वारा होती है। लक्षणा-वादियों का कहना है कि यहाँ पर शैत्य-पावनत्व प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति लक्षणा के द्वारा हो जायगी, इसके लिए यंजना शक्ति मानने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर देते हुए ध्वनिकार कहते हैं कि लक्षणा वहाँ होती है जहाँ अर्थ बाधित होता है। जहाँ पर प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ बाधित नहीं है अतः यह लक्षणा का विषय ही नहीं है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन का कहना है कि गुणवृत्ति (लक्षणा) सदा वाचकत्व (अभिधा व्यापार) का आश्रय लेकर ही व्यवस्थित होती है। पहले अभिधा के द्वारा मुख्यार्थ का बोध होता है तदनन्तर मुख्यार्थ-बाध होने पर लक्षणा के द्वारा

उससे सम्बन्धित अर्थ (लक्ष्यार्थ) की प्रतीति होती है अतएव मम्मट आदि आचार्यों ने लक्षणा को अभिधा की पूँछ कहा है। (अतएवाभिधा पुच्छभूता सेत्याहुः)। अतः ध्वनि को लक्षणा कैसे कह सकते हैं? जिनका एकमात्र मूल कारण व्यञ्जना-व्यापार है—

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।
व्यंजकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ॥
(ध्वन्यलोक १।१८)

इसके अतिरिक्त लक्षणा और व्यंजना में भेद के कुछ और हेतु बताये गये है। जैसे लक्षणा के लिए मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ योग और रूढ़ि या प्रयोजन होना आवश्यक है किन्तु व्यंजना में इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। व्यंजना लक्षणामूला भी होती है और अभिधामूला भी, किन्तु लक्षणा केवल अभिधामूला होती है। व्यंजना वर्णमात्र में भी होती है और संकेतमात्र में भी। लक्षणा और व्यंजना में विषय भेद भी होता है। जैसे लक्षणा का विषय तो केवल मुख्यार्थ से सम्बद्ध वस्तु रूप ही होता है। किन्तु व्यंजना वस्तु, अलंकार और रसादि रूप भी होती हैं। अतः व्यंजना को लक्षणा में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

यतो. व्यंजकत्वस्य रसादयोऽलंकारविशेषा व्यंग्यरूपावच्छिन्नं वस्तु चेति त्रयं विषय (ध्वन्यालोक)

१४—अखण्डतावादी वेदान्ती एवं वैयाकरण तथा अनुमानवादी महिमभट्ट के व्यंजनाविरोधी मतों की समीक्षा कीजिए।

ब्रह्मवादी वेदान्ती 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस श्रुति के आधार पर एकमात्र अखण्ड ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं और बाह्य जगत् की सत्ता का निषेध करते हैं। उसी प्रकार अखण्ड बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने योग्य परब्रह्म रूप वाक्यार्थ का वाच्य कहा जाता है और अखण्ड वाक्य को वाचक कहते हैं। इस प्रकार वेदान्ती वाक्य को अखण्ड मानते हैं। उनके मत में संसर्ग-गोचर-प्रमिति का जनक वाक्य 'अखण्डार्थ कहलाता है (संसर्गगोचरप्रमितिजनकत्वमखण्डार्थ-त्वम्) तदनुसार समस्त लक्षण वाक्य संसर्गगोचर प्रमिति के जनक होने से अखण्डार्थं वाक्य कहलाते हैं। इस प्रकार वेदान्तियों के मत में 'तत्त्वमसि' वाक्य भी अखण्डार्थं वाक्य कहा जाता है।

कुछ वेदान्ती 'अखण्डार्थ वाक्य' की व्याख्या दूसरे प्रकार से करते हैं। वे जहाँ पर क्रिया-कारक-भाव रूप खण्डों में वाक्य का विभाजन न किया जा सके उसे 'अखण्ड वाक्य' कहते हैं। उनके मत में एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है और नाना रूप दृश्यमान जगत् मिथ्या (ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या)। अतः उनके मत में धर्मधर्मिभाव तथा क्रियाकारकभाव आदि सम्बन्ध भी मिथ्या है। इस प्रकार वेदान्त में परब्रह्म को छोड़कर सभी कुछ असत् (मिथ्या) माना गया है। अतः उनके अनुसार वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यग्यार्थ, वाचक, लक्षक और व्यंजक शब्द अखण्ड तथा सखण्ड वाक्य भी असत् है। किन्तु व्यवहार काल में अखण्डवाक्य मानना पड़ता है। अतः वेदान्त मतानुसार 'सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों में अखण्ड बुद्धि से ग्रहण होने योग्य परब्रह्म ही वाक्यार्थ होता है, वही वाच्यार्थ कहलाता है और वही वाचक शब्द होता है।

वेदान्तियों के समान वैयाकरण भी 'अखण्डार्थ वाक्य' को स्वीकार करते हैं। हाँ वे वेदान्तियों के ब्रह्म के स्थान पर स्फोट रूप शब्द ब्रह्म को स्वीकार करते हैं। उनके मत में स्फोट वाक्य है और ध्वनि वाचक शब्द। वे अखण्ड-वाक्य को स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि वाक्य में पदों का अलग-अलग कोई अर्थ नहीं होता और पदों में वर्णों का अलग-अलग अर्थ नहीं होता है। पूरा वाक्य (अखण्ड वाक्य) ही अर्थवान् होता है। जैसे 'ब्राह्मणकम्बलः में 'ब्राह्मण का कम्बल' यह पूरे वाक्य का अर्थ है ब्राह्मण या कम्बल पद का अलग से कोई अर्थ नहीं होता। 'उसके मत में प्रकृति-प्रत्यय का विभाग की कल्पना बालकों की शिक्षा के लिए है। वस्तुतः वे 'अखण्डवाक्यार्थ को ही मानते हैं।

उपर्युक्त दोनों मतों में समानता है और दोनों ही अखण्डार्थवादी हैं। अतः अभिनवगुप्त दोनों मतों की समीक्षा एक साथ करते हैं—

"येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वेय-मनुसरणीया प्रक्रिया। तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्र-कारेण न विदितं तत्त्वालोकग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम्।"

(ध्वन्यालोक)

जो विद्वान अविभक्त स्फोट, वाक्य और उसके अखण्ड अर्थ मानते हैं उन्हें भी व्यवहार की दशा में इन सब प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा।

सांसारिक व्यवहार से ऊपर उठ जाने पर सभी कुछ अद्वैत परमेश्वरमय ब्रह्म ही है। यह बात 'तत्त्वालोक' नामक ग्रन्थ की रचना करने वाले हमारे शास्त्रकार को ज्ञात न हो ऐसी बात नहीं। अर्थात् यह बात हमारे शास्त्रकार आनन्दवर्धन को मालूम थी। अतः सांसारिक अवस्था में पद-पदार्थ की कल्पना तथा व्यंग्य अर्थ को तो मानना ही पड़ेगा।

भाव यह कि वेदान्ती लोग अखण्डब्रह्म को मानते हुए भी व्यवहार-दशा में दृश्यमान जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं। उसी प्रकार अखण्डवाक्य को स्वीकार करने पर भी उन्हें पद पदार्थ आदि की कल्पना तो करनी ही पड़ेगी। इसी प्रकार वैयाकरणों को भी पद, वर्ण आदि के विभाग की कल्पना करनी ही पड़ती है। अर्थात् वैयाकरण लोग अखण्डवाक्य स्फोट को स्वीकार करते हैं और उसमें वर्ण, पद आदि के विभाग को स्वीकार नहीं करते। वे परमार्थतः पद-पदार्थ या प्रकृति-प्रत्ययादि की पृथगर्थता भले ही स्वीकार न करें किन्तु व्यवहार काल में तो उन्हें भी प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना तो करनी ही पड़ती है। इस प्रकार व्यवहार काल में वैयाकरणों को भी व्यंजना-व्यापार स्वीकार करना ही पड़ता है। क्योंकि वाक्य के अवयवभूत पद या वर्ण में भी व्यंजना तो रहती ही है। कभी-कभी वाक्य में एक पद या वर्ण भी व्यंग्य अर्थ को प्रकट करते हैं।

अनुमानवादी महिमभट्ट व्यंजना को अनुमान में अन्तर्भूत मानते हैं। उनका कहना है कि 'वाच्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती; क्योंकि यदि वाक्य से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होने लगेगी तो किसी भी शब्द से कोई भी अर्थ निकलने लगेगा। इस प्रकार एक व्याप्ति बन जाती है— "जहाँ-जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ-वहाँ वाक्य का सम्बन्ध अवश्य होता है" (यत्र तत्र व्यंग्यार्थप्रतीतिः तत्र तत्र वाच्यसम्बन्धत्वम्)। यह अन्वयव्याप्ति है। "जहाँ-जहाँ वाच्य का सम्बन्ध नहीं होता, वहाँ-वहाँ व्यंयार्थ की प्रतीति नहीं होती" (यत्र तत्र वाच्यसम्बन्धाभाव तत्र तत्र व्यंग्यार्थ-प्रतीतेरभावः) यहाँ पर व्यतिरेकव्याप्ति है। अनुमान में पक्षधर्मता का होना आवश्यक है। लिङ्ग (हेतु) का पक्ष में रहना 'पक्षधर्मता' है। अनुमान में लिङ्ग के तीन रूप होते हैं—पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृतत्व। ये तीनों रूप जिसमें होते हैं वह शुद्ध हेतु होता है। वाच्य का सम्बन्ध लिङ्ग

(हेतु) होता है और व्यंग्यार्थ की प्रतीति लिंगी (साध्य)। इस प्रकार व्याप्ति के साथ पक्षधर्मता के ज्ञान त्रिरूप लिंग से लिंगी (साध्य) का जो ज्ञान होता है उसे 'अनुमान' कहते हैं। इस प्रकार व्यंग्य-व्यंजक की प्रतीति भी अनुमान का ही विषय है। जैसे—

भ्रम धार्मिक ! विश्रब्ध स सशुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोरा-नदी-कच्छ-कुन्ज-वासिना दृप्तसिंहेन ॥

"हे धार्मिक ! अब आप निश्चित होकर यहाँ घूमें, क्योंकि जो कुत्ता आप को देखकर भूँकता था उसे गोदावरी नदी के कछार में रहने वाले उद्धत सिंह ने मार डाला।"

यहाँ पर 'भ्रमण करना' विधिरूप वाच्यार्थ है और 'भ्रमणभाव' निषेध रूप का व्यांग्यार्थ है। दोनों में साध्य-साधन भाव होने से अनुमान का विषय है हैं। अतः अहाँ अनुमान के द्वारा 'भ्रमणाभाव' की सिद्धि होती है। अनुमान का रूप निम्न प्रकार होगा—

"इदं गोदावरी-कुन्जं (पक्ष), भीरुभ्रमणायोग्यं (साध्य) भयकारणसिंहोपलब्धे (हेतु), वनवत् (दृष्टान्त)।

यहाँ पर गोदावरी कुंज 'पक्ष' है, भ्रमण की अयोग्यता 'साध्य' है, भय का कारण सिंह का होना 'हेतु' है और वन 'दृष्टान्त' है। इसमें व्याप्ति इस प्रकार की होगी—

(क) यत्र यत्र भयकारण तत्र भीरुभ्रमणायोग्यत्वम, यथा वनम्।
(अन्वयव्याप्ति)

(ख) यत्र यत्र भीरुभ्रमणायोग्यत्व न, तत्र तत्र भयकारणं न, यथा गृहम्
(व्यतिरेकव्याप्ति)

इस प्रकार यहाँ पर गोदावरी कुंज 'पक्ष', अभ्रमण साध्य, भय का कारण सिंह हेतु (लिंग), वन उदाहरण (सपक्ष), घर विपक्ष है। यहाँ पर गोदावरी कुंज में भ्रमण का निषेध अनुमान प्रमाण से सिद्ध हो जाता है अतः यहाँ व्यांजना मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

महिमभटट के इस मत के खण्डन के लिए ध्वनिवादी आचार्य उनके अनुमान में 'हेत्वाभास' दोष प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि महिमभट्ट ने अपने साध्य की सिद्धि के लिए जो हेतु दिये हैं वे हेतु नहीं 'हेत्वाभास' हैं। यहाँ पर वे अनैकान्तिक, विरुद्ध और असिद्ध नामक हेत्वाभास दिखाते हैं।

१—अनैकान्तिक हेत्वाभास—सव्यभिचार को अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। यहाँ पर महिमभट्ट ने भय के कारण सिंहोपलब्धि को भीरु के अभ्रमण का हेतु बताया है। यहाँ पर अनैकान्तिक होने के कारण सव्यभिचार हेत्वाभास है क्योंकि यहाँ पर 'जहाँ-जहाँ भय का कारण होता है, वहाँ-वहाँ भीरु-भ्रमण नहीं होता" यह व्याप्ति ही नहीं बनती, क्योंकि गुरु की आज्ञा, प्रभु (राजा) के आदेश, प्रिया के अनुराग के कारण भीरु व्यक्ति भय के स्थान पर भी घूमता हुआ देखा जाता है।

२—विरुद्ध हेत्वाभास—साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाले हेतु को विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं (साध्यविपर्यासव्याप्तो हेतुर्विरुद्ध)। वहाँ पर 'अभ्रमण' साध्य है, उसका हेतु सिंहोपलब्धि है। यह हेतु साध्य (अभ्रमण) के विपरीत भी व्याप्त हो सकता है। जैसे यदि धार्मिक वीर है तो वह कुत्ते से डरने वाला होने पर भी शेर से नहीं डर सकता। अतः भय का कारण सिंहोपलब्धि 'अभ्रमण' का हेतु नहीं हो सकता। इसलिए यहाँ विरुद्ध हेत्वाभास है।

"शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेति विरुद्धोऽपि"

३—असिद्ध हेत्वाभास—जो हेतु पक्ष (आश्रय) में न हो उसे 'असिद्ध' हेत्वाभास कहते हैं। यहाँ पर सिंहोपलब्धि रूप हेतु गोदावरी के कछार रूपी पक्ष (आश्रय) में होना असिद्ध है क्योंकि गोदावरी के कछार में सिंह का होना न तो प्रत्यक्ष से ज्ञात है और न अनुमान से ही निश्चित है अर्थात् धार्मिक ने वहाँ पर न सिंह को देखा है और न अनुमान के द्वारा ही निश्चय किया है, बल्कि एक व्यभिचारिणी स्त्री के वचन से सिंह का होना सिद्ध है और व्यभिचारिणी स्त्री का वचन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। अत वहाँ पर पक्ष में हेतु के सिद्ध न होने से 'असिद्ध' हेत्वाभास है।

इस प्रकार उक्त अनुमान का हेतु अनैकातिक, विरुद्ध और असिद्ध नामक दोषत्रय से दूषित होने के कारण साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता। अतः उक्त अनुमान के द्वारा गोदावरी के तट पर धार्मिक के भ्रमण के निषेध का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुमान का हेतु दोषपूर्ण है इस प्रकार जो अनुमानवादी नैयायिक महिमभट्ट अनुमान के द्वारा भ्रमणनिषेध की प्रतीति कराकर व्यंजना का खण्डन करते हैं उनका अनुमान हेत्वाभास दोष से ग्रस्त होने के कारण भ्रमणनिषेध रूप साध्य की सिद्धि नहीं करा सकता। अतः उक्त

व्यंग्य अर्थ की सिद्धि के लिए व्यंजना शक्ति को स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है।

१५—विभिन्न अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण कीजिए।

अथवा

'क्या ध्वनि का अलकारों में अन्तर्भाव हो सकता है?' ध्वनिकार द्वारा दी गई युक्तियों की तर्कसंगत मीमांसा कीजिए।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों का मत है कि 'चारुता ही काव्य का प्राण है।' शब्दगत चारुता अनुप्रासादि अलंकार के रूप में प्रसिद्ध है और अर्थगत चारुता उपमादि अलंकारों के रूप में प्रसिद्ध है अतः चारुता के हेतु ध्वनि को भी अलंकारों में समाविष्ट कर लेना चाहिए। जो लोग ध्वनि का अलंकारों में समावेश कर लेते हैं उनके मत का खण्डन करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं कि अनुप्रासोपमादि अलंकार तो सदैव वाच्य-वाचक को अलंकृत करते हैं अर्थात् वाच्य-वाचक के चारुत्व के हेतु अलंकार हैं किन्तु ध्वनि वाच्य-वाचक के आश्रित न होकर व्यंग्य-व्यंजना के आश्रित रहते हैं। व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यंजना के द्वारा होती है। ध्वनि काव्य में सदा अङ्गी रूप (प्रधान) में रहता है किन्तु अलंकार ध्वनि के अंग रूप में रहते हैं। अतः ध्वनि का अलंकारों में अन्तर्भाव नहीं हो सकता?

अव प्रश्न यह उठता है कि यदि अनुप्रासोपमादि अलंकारों में व्यंग्यार्थ की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती तो इसमें ध्वनि का अन्तर्भाव न माना जाय। किन्तु जिन अलंकारों में व्यंग्यार्थ की स्पष्ट प्रतीति होती है, जैसे समासोक्ति, आक्षेप, विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति, अपह्नुति, दीपक, सङ्कर आदि अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव क्यों नहीं मान लिया जाता? ध्वनिकार का कहना है कि केवल व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने से ही ध्वनि नहीं होती, बल्कि जहाँ वाच्यार्थ अपने को और वाचक अपने अर्थ को गुणीभूत बनाकर व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं उसे 'ध्वनि' कहते हैं। इस प्रकार अलंकार गुणीभूतव्यंग्य होते हैं। अतः इनमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता? ध्वनिकार ने समासोक्ति, आक्षेपादि अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का खण्डन किया है। पहले 'समासोक्ति' अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण करते हैं—

समासोक्ति का अर्थ है संक्षिप्त कथन। समासोक्ति अलंकार का लक्षण भामह ने निम्न प्रकार किया है—

"यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः॥

अर्थात् जहाँ पर समान विशेषणों के कारण (प्रस्तुत अर्थ के द्वारा) अन्य (अप्रस्तुत) अर्थ की प्रतीति हो उस अर्थ को संक्षिप्त करने के कारण विद्वान् लोग 'समासोक्ति' कहते हैं। तात्पर्य यह कि जहाँ पर समान विशेषणों से प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप किया जाता है उसे 'समासोक्ति' कहते हैं। समासोक्ति का उदाहरण ध्वनिकार ने दिया है—

"उपोढ़रागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तथा पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥

"सन्ध्याकालीन राग (लालिमा) को धारण करने वाले चन्द्रमा ने चंचल ताराओं वाली रात्रि के मुख को इस प्रकार पकड़ लिया कि लालिमा के कारण पूर्व दिशा में गिरे हुए तिमिर (अन्धकार) रूपी वस्त्र को भी लक्षित न कर सकी।"

अर्थात् बढ़े हुए राग (प्रेम) वाले शशि नामक नायक ने चंचल ताराओं (पुतलियों) वाली निशा (रात्रि) रूपी नायिका के मुख को (चुम्बन के लिए) इस प्रकार पकड़ लिया कि वह राग (प्रेमोन्माद) के कारण सामने गिरे हुए अंधकार रूपी वस्त्र को भी न जान पाई। यहाँ पर समान विशेषणों के द्वारा 'शशि और निशा' के वृत्तान्त के द्वारा प्रेमोन्मत्त नायक-नायिका का व्यवहार अभिव्यक्त (व्यंजित) हो रहा है अतः 'समासोक्ति' अलंकार है। अतः यहाँ ध्वनि होना चाहिए, किन्तु यहाँ पर कवि को शशि और निशा का वर्णन ही अभिप्रेत है अतः यह वर्णन ही प्रधान हुआ। नायक का व्यवहाररूप वस्तुव्यंग्य प्रधान न होकर गुणीभूत हो गया है अत; यहाँ गुणीभूत-व्यंग्य होगा।

अब आक्षेप अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण किया जाता है। भामह ने आक्षेप अलंकार का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

"प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषय; स आक्षेपो द्विधा मतः॥

अर्थात् जहाँ पर किसी बात को कहने की इच्छा से अभीष्ट वस्तु का

निषेध किया जाता है वहाँ 'आक्षेप' अलंकार होता है, आक्षेप अलंकार दो प्रकार का होता है—अनुक्तविषय और उक्तविषय। वामन का आक्षेप अलंकार का लक्षण है 'उपमानक्षेपश्चाक्षेप अर्थात् जहाँ पर उपमान का आक्षेप किया जाता है वहाँ आक्षेप अलंकार होता है ध्वनिकार ने आक्षेप का निम्न उदाहरण दिया है—

'अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरसरः।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः॥

"सन्ध्या (सन्ध्या नाम की नायिका) अनुराग (लालिमा, प्रेम) से युक्त है और दिन (दिवस नामक नायक) उस सन्ध्या नायिका के सामने आ रहा है। अहो दैवगति विचित्र है कि फिर भी दोनों का समागम नहीं हो रहा है।"

यहाँ पर अनुरागवती सन्ध्या पर नायिका का और दिन पर नायक का आक्षेप किया गया है। नायिका प्रेम से युक्त है और नायक भी सामने है किन्तु गुरुजनों के बन्धन के कारण दोनों का समागम नहीं हो रहा है। यद्यपि यहाँ पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है किन्तु चारुत्व (सौन्दर्य) का पर्यवसान वाच्यार्थ में होने से वाच्यार्थ की ही प्रधानता होगी। कुछ विद्वान् (भामह आदि) इसे समासोक्ति का उदाहरण बताते हैं। इस पर अभिनवगुप्त कहते हैं कि इसे चाहे आक्षेप का उदाहरण मानिए, चाहे समासोक्ति का उदाहरण मानिए। ध्वनिकार को तो केवल इतना ही अभीष्ट है कि अलंकारों (आक्षेप तथा समासोक्ति आदि) में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होगा।

अलंकारों की ध्वनि के अन्तर्भाव के निराकरण के सम्बन्ध में ध्वनिकार का कहना है कि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' अर्थात् प्रधानता के आधार पर नामकरण होता है। जैसे दीपक, अपह्नुति इन अलंकारों में उपमा अलंकार व्यक्ति है किन्तु उसकी प्रधानता न होने के कारण उसे कोई उपमा नहीं कहता। उसी प्रकार समासोक्ति और आक्षेप अलंकारों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी उसकी प्रधानता न होने के कारण उसे कोई ध्वनि नहीं कहता। बल्कि अलंकारों की प्रधानता के कारण ही उसे अलंकार ही कहा जाता है। अतः इन अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

इसके पश्चात् ध्वनिकार विशेषोक्ति अलंकार में ध्वनित्व के अन्तर्भाव के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं। जहाँ पर कारणों के होते हुए भी कार्य (फल) का अभाव पाया जाय वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है। विशेषोक्ति अलंकार

के तीन भेद हैं—अचिन्त्यनिमित्ता, उक्तनिमित्ता, और अनुक्तनिमित्ता। ध्वनिकार ने अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण यह प्रस्तुत किया है—

"आहूतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि।
गन्तुमना अपि पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति॥

"साथियों के द्वारा बुलाये जाने पर भी 'अच्छा' इस प्रकार कहकर निद्रा (नींद) को छोड़ देने पर भी जाने की इच्छा होने पर भी पथिक निद्रा के सङ्कोच को छोड़ नहीं रहा है।"

यहाँ पर निद्रा के संकोच छोड़ने के सभी कारण विद्यमान हैं फिर भी वह निद्रा संकोच को छोड़ नहीं रहा है। इस प्रकार कारणों के होने पर भी कार्य का न होने से 'विशेषोक्ति' है।

'उद्भट' का कहना है कि 'शीताधिक्य के कारण यह संकोच को नहीं छोड़ रहा है' यह निमित्त है किन्तु यहाँ व्यंग्यार्थ में कोई चारुता (चमत्कार) नहीं है' अतः व्यंग्यार्थ की प्रधानता न होने के कारण इसे 'ध्वनि' नहीं कह सकते।

कुछ आलोचकों का कहना है कि उक्त उदाहरण में यह निमित्त है कि "पथिक निद्रा-संकोच को इसलिए नहीं छोड़ रहा कि वह समझता है कि कहीं जाने में देर होगई तो मिलन में देरी होगी और पड़े रहने पर यदि नींद आ गई तो स्वप्न में जल्दी ही मिलन हो जाएगा।" लोचनकार का कहना है कि कोई भी निमित्त हो, यहाँ चारुत्व हेतु नहीं है 'यद्यपि प्रकरण-सामर्थ्य से व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है किन्तु उसके द्वारा चारुत्व की निष्पत्ति नहीं हो रही है अतः इसमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

अब पर्यायोक्त अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण करते हैं। भामह ने 'पर्यायोक्त' अलंकार का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।"

जहाँ पर प्रकारान्तर से अवगत अर्थ का अभिधान किया जाता है उसे 'पर्यायोक्त' अलंकार कहते हैं। अर्थात् जहाँ पर वाच्य-वाचकभाव (अभिधा) के भिन्न व्यंग्य-व्यंजक भाव से कोई कथन किया जाता है। वहां 'पर्यायोक्त' अलंकार होता है इस प्रकार पर्यायोक्त अलंकार में ध्वनि का अन्तर्भाव किया जा सकता है क्योंकि पर्यायोक्त में व्यंग्यार्थ की प्रधानता प्रतीत होती है।

ध्वनिकार का कहना है कि ध्वनि का पर्यायोक्त में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, बल्कि पर्यायोक्त का ध्वनि में ही अन्तर्भाव हो जायगा। क्योंकि जहाँ ध्वनि हो वहाँ पर्यायोक्त अलंकार हो, ऐसी बात नहीं है। ध्वनि तो पर्यायोक्त से अतिरिक्त भी पाई जाती है। इस प्रकार ध्वनि का क्षेत्र विस्तृत है। अतः ध्वनि का पर्यायोक्त में अन्तर्भाव नहीं, बल्कि पर्यायोक्त का ध्वनि में अन्तर्भाव होगा।

"पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यंग्यत्वं तद्भवतु नाम तस्या ध्वनावन्तर्भावः नतु ध्वनेस्यत्रान्तर्भावः।" (ध्वन्यालोक वृत्ति)

संकरालंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण करते हुए ध्वनिकार कहते हैं कि संकर अलंकार में भी ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। दो या दो से अधिक अलंकारों के मिश्रण से संसृष्टि तथा संकर अलंकार होता है। संसृष्टि में अलंकारों का मिश्रण तिल-तण्डुलवत् होता है और संकर अलंकार में क्षीर-नीरवत् मिश्रण होता है। संकर अलंकार के तीन भेद होते हैं—सन्देह संकर, एकाश्रयानुप्रवेश संकर और अंगागिभाव संकर।

जहाँ एक स्थान पर दो विरुद्ध अलंकार उपस्थित हों और एक साथ दोनों का होना सम्भव न हो तथा किसी एक से ग्रहण करने में कोई न्याय (साधक) तथा दूसरे के त्याग करने में कोई बाधक न हो वहाँ संदेह संकर होता है। जैसे 'मुखकमलम्' इस उदाहरण में 'मुखम्' एवं कमलम्' इस विग्रह में रूपक और 'मुखं कमलम् इव' विग्रह में उपमा अलंकार भी हो सकता है किन्तु साधक बाधक प्रमाण के अभाव में दोनों में सन्देह होने से सन्देहसंकर है। इन दोनों में कौन वाच्य (प्राकरणिक) और कौन सा व्यंग्य (अप्राकरणिक) है यह निश्चय करना कठिन है। अतः यह ध्वनि का विषय नहीं हो सकता।

"जहाँ पर एक ही वाक्य में एक शब्दालंकार और एक अर्थालंकार हो वहाँ एकाश्रयानुप्रवेश संकर होता है। जैसे 'स्मर स्मरमिव प्रियम्' पर अर्थात् कामदेव के समान प्रिय का स्मरण करो' वाक्य में 'स्मरमिव' में उपमा अलंकार है और 'स्मर-स्मर' में यमक अलंकार है। यहाँ पर कोई भी अलंकार व्यंग्य नहीं है अतः ध्वनि की सम्भावना ही नहीं है।

ध्वनिकार ने उपर्युक्त दोनों अलंकारों में ध्वनि होने का निषेध कर दिया है, किन्तु अंगांगिभाव संकर से कहीं-कहीं ध्वनि का विषय संभव मानते हैं।

जहाँ पर अलंकार परस्पर एक दूसरे का उपकारक होते हैं वहाँ 'अंगाङ्गिभाव संकर' होता है। जैसे—

भवति न गुणानुरागः खलानां केवलं प्रसिद्धिशरणम्।
किल प्रस्नौति शशिमणिः चन्द्रे न प्रियामुखे दृष्टे॥

"केवल अपनी ख्याति को चाहने वाले दुष्टों को गुणों के प्रति प्रेम नहीं होता। चन्द्रकान्त मणि चन्द्रमा को देखकर तो द्रवित हो जाता है किन्तु प्रिय के मुख को देखकर द्रवित नहीं होता।"

यहाँ पर अर्थान्तरन्यास अलंकार वाच्य है, व्यतिरेक और अपह्नुति अलंकार व्यंग्य है। कहते हैं कि व्यंग्य अलकारों की प्रधानता होने पर ध्वनि का विषय हो सकता है किन्तु संकर में सब जगह ध्वनि ही है ऐसा नहीं कह सकते, जैसा कि पर्यायोक्त अलंकार के प्रसंग में कहा जा चुका है। इस अलंकार में संसार शब्द की स्थिति ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है। तात्पर्य यह कि जहाँ पर वाच्यालंकार प्रधान होता है वहाँ संकर अलंकार होता है और जहाँ व्यंग्यालंकार की प्रधानता होती है वहाँ संकरालंकार ध्वनि होता है। अतः संकरालंकार में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

ध्वनिकार का कहना है कि 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में भी ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। भामह के अनुसार जहाँ पर प्रस्तुत से भिन्न अन्य अप्रस्तुत की स्तुति की जाती है वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। वह तीन प्रकार की होती है—

'अधिकरादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य ना स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्त्तिता॥

ध्वनिकार का कहना है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में सामान्य-विशेष भाव एवं निमित्त-नैमित्तिक भाव भेदों में वाच्य और व्यंग्य अर्थों में दोनों ही समान प्रधानता है। अतः व्यंग्यार्थ की प्रधानता न होने से ध्वनि नहीं होगी। जहाँ प्रधानता होगी वहाँ ध्वनि होगी और जहाँ प्रधानता न होगी वहाँ अलंकार होगा, अतः अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होगा।

इस प्रकार ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकार आदि में नहीं हो सकता, क्योंकि ध्वनि को अंगी (प्रधान) कहा गया है और अलंकरादि को अंग (काव्य का अंग) अलंकार आदि ध्वनि से अलग होकर अंगी नहीं हो सकते और ध्वनि के

साथ रहने पर ये सदा ध्वनि के अंगरूप में रहते हैं। ये अंगी कभी-कभी अंगी रूप भी हो जाते हैं जैसे—'भ्रम धार्मिक' इत्यादि उदाहरणों में होता है। अतः ध्वनि के महाविषय होने से ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकारों में नहीं हो सकता। क्योंकि ध्वनि का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है।

१६—ध्वनिकार द्वारा उद्भावित ध्वनि के प्रकारों का उल्लेख कीजिये।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन के अनुसार 'वाच्य-वाचक से मिश्रित शब्द आत्मा वाले तथा काव्य इस नाम वाले तत्त्व को व्यंजक की समानता के कारण ध्वनि कहा जाता है।' भाव यह कि वाच्य अर्थ ध्वनि है, वाचक शब्द भी ध्वनि है, व्यंग्य को भी ध्वनि कहते हैं, शब्दात्मा से तात्पर्य है शब्द व्यापार अर्थात् व्यंजना व्यापार भी ध्वनि है, जिस काव्य में उपर्युक्त ध्वनि-चतुष्टय की स्थिति विद्यमान है वह 'काव्य' भी 'ध्वनि' है उक्त समस्त प्रकारों में ध्वनि शब्द का व्यवहार वैयाकरणों के अनुसरण पर किया जाता है। अपने भेद एवं प्रभेदों के कारण ध्वनि का विषय अत्यधिक व्यापक है।

ध्वनि के मुख्यतः दो भेद होते हैं—

१—अविवक्षित काव्य

२—विवक्षितान्यपर काव्य

इनमें अविवक्षितवाच्य ध्वनि की लक्षणामूला ध्वनि और विविक्षतान्यपरवाच्य ध्वनि को अभिधामूला ध्वनि कहा जाता है। इस प्रकार ध्वनिकार के अनुसार सामान्यतः ध्वनि के भेद होते हैं—अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य—

"स चासवविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यस्यश्चेति द्विविधः सामान्येनेति।

१—अविवक्षितवाच्यध्वनि—जिसमें वाच्य अर्थ की विवक्षा नहीं होती, उसे 'अविवक्षितवाच्य ध्वनि' कहते हैं। इसे 'लक्षणामूला' इसलिए कहते हैं कि इसनें लक्ष्यार्थ की प्रतीति के प्रश्चात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। जैसे—

> सुवर्णपुस्पितां पृथिवी चिन्वन्ति पुरुषास्त्रय।
> शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

अर्थात् सुवर्ण को फूलने वाली या सुवर्ण रूप फूलों वाली पृथिवी को तीन

प्रकार के पुरुष ही प्राप्त करते हैं—वीरपुरुष, विद्वान् और जो सेवा करना जानता है।"

यहाँ पर 'सुवर्ण' शब्द 'सम्पत्ति' के अर्थ में प्रयुक्त है। पृथ्वी कोई वृक्ष या लता नहीं है जो विकसित हो। अतः यहाँ मुख्यार्थ बाध होने से लक्षणा का विषय है लक्षणा के द्वारा 'सुवर्णपुरुष' का लक्ष्यार्थ होगा 'सम्पत्ति' और प्रयोजन हैं—शूर, विद्वान् और सेवक की प्रशस्ति। यह प्रयोजन ही व्यंग्य है जो स्वशब्दवाच्य न होने के कारण 'अविवक्षितवाच्य' ध्वनि है।

२—विवक्षितान्यपरवाच्य—जहाँ पर वाच्यार्थ विवक्षित होने पर भी अन्य परक अर्थात् व्यंग्यार्थ निष्ठ होता है उसे 'विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनि कहते हैं। इसे 'अभिधामूल' ध्वनि इसलिए कहते हैं कि इसमें वाच्यार्थ की प्रतीति के पश्चात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, जैसे—

'शिखरिणी नु क्व नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
सुमुखि येन तवाधरपटलं दशति बिम्बमुख शुकशावकः॥

अर्थात् हे सुमुखि ? इस शुकशावक ने किस पर्वत पर कितने दिनों तक कौन-सी तपस्या की थी जो कि यह तुम्हारे अधर के समान लाल रंग के बिम्ब फल को काट रहा है।"

यहाँ पर कामुक नायक द्वारा नायिका के अधरामृत पान में सौभाग्यातिशय तथा उसके रसास्वादन की अभिलाषा व्यंजित हो रही है। भाव है कि श्रीपर्वत आदि पर अनन्त वर्षों (कल्पान्त) तह पञ्चाग्नि आदि तपस्या करने पर भी इतना उत्तम फल नहीं मिलता। अतः तुम्हारे अधरपान का फल किसी साधारण तपस्या से प्राप्त नहीं हो सकता। यहाँ पर मुख्यार्थ बाध न होने से लक्षणा का विषय नहीं हैं और वाच्यार्थ की विवक्षा व्यंग्यनिष्ठ होने से 'विवक्षितान्यान्तपर वाच्य' ध्वनि है।

अविवक्षितवाच्यध्वनि के अवान्तर भेद—अविवक्षितवाच्य ध्वनि में वाच्यार्थ अविवक्षित होता है। इसके दो भेद होते हैं—अर्थान्तर-संक्रमित और अत्यन्त-तिरस्कृत—

अर्थान्तर सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्॥

१—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि—जहाँ पर मुख्यार्थ के बाधित हो जाने

के कारण वाच्यार्थ की विवक्षा न होने पर वाक्य दूसरे अर्थ में सक्रमण (बदल) कर जाता है उसे 'अर्थान्तरसङ्‌क्रमितवाच्य ध्वनि' कहते हैं। जैसे—

"त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्॥

"मैं तुमसे कहता हूँ कि यहाँ विद्वानों का समुदाय उपस्थित है। इसलिए तुम अपनी बुद्धि ठीक करके इस विद्वन्मण्डली में व्यवहार करना।"

यहाँ पर 'त्वाम् अस्मि वच्मि' का अर्थ बाधित होकर लक्षणा के द्वारा 'त्वाम्' का अर्थ 'उपदेश के योग्य तुम्हें' 'अस्मि' पद का अर्थ 'मैं तुम्हारा आप्त हूँ, और 'वच्मि' पद का अर्थ 'उपदेश देता हूँ' प्रकट होता है। यहाँ वाच्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ सङ्‌क्रमण कर जाने के कारण 'अर्थान्तरसङ्‌क्रमितवाच्य' ध्वनि है।

२—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि—जहाँ पर शब्द अपने वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर अपने से भिन्न अर्थ में परिणत हो जाता है उसे 'अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य ध्वनि' कहते हैं। जैसे—

"रविसङ्‌क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डल।
निःश्वासान्ध इवादर्शं चन्द्रमा न प्रकाशते॥

"सूर्य से सङ्‌क्रान्त सौभाग्य वाला तथा तुषार से आवृत मण्डल वाला चन्द्रमा निश्वास से मलिन दर्पण के समान प्रकाशित नहीं हो रहा है।"

यहाँ पर 'अन्ध' शब्द अन्धत्व रूप अर्थ को छोड़कर 'मलिनता रूप' अर्थ में परिणत हो गया है। यहाँ पर अप्रकाशातिशय रूप व्यंग्य है। अतः यहाँ 'अत्यन्तीतिरस्कृतवाच्य ध्वनि' है।

ये दोनों भेद कहीं एक पद से प्रकाशित होते हैं और कहीं वाक्य में प्रकाशित होते हैं। अतः इसके प्रत्येक के दो भेद होते हैं—पद-प्रकाश्य और वाक्य-प्रकाश्य। इस प्रकार इसके कुल चार भेद हुए—

१—पदप्रकाश्य अर्थान्तरसङ्‌क्रमितवाच्य
२—वाक्यप्रकाश्य अर्थान्तरसङ्‌क्रमितवाच्य
३—पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य
४—वाक्यप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य।

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के अवान्तरभेद—इस ध्वनि में वाच्यार्थ

विवक्षित होता है और वह विवक्षा अन्यपरक होती है। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं—

१—असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य
२—संलक्ष्यक्रम व्यंग्य

१—**असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य**—जहाँ पर वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ में पूर्वापर क्रम तो हो किन्तु शीघ्रता के कारण प्रतीत न हो, उसे 'असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' कहते हैं। इसके अन्तर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशवलता, भावशान्ति, आदि का समावेश किया जाता है। रसादिध्वनि को असंलक्ष्यक्रम इसलिए कहते है कि इसमें विभावादि के द्वारा रस-प्रतीति का पूर्वापर क्रम नहीं जाना जा सकता। जैसे कमल की पंखुड़ियों का खिलना इतनी शीघ्रता से होता है कि उसमें यह नहीं जाना जा सकता कि कौन-सी पंखुड़ी पहले खिली और कौन-सी वाद में। इस प्रकार 'असंलक्ष्यक्रम' में पूर्वापर का ज्ञान नहीं होता है।

२—**संलक्ष्यक्रम व्यंग्य**—जहाँ पर वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ से पूर्वापर का क्रम ज्ञान रहता है उसे 'संलक्ष्यक्रम' कहते हैं। संलक्ष्यक्रम को 'अनुरणनोपमव्यंग्य भी कहते हैं। आनन्दवर्धन ने इसके दो भेद किये हैं—

(१) शब्दशक्तिमूलक (शब्दशक्त्युद्भव)
(२) अर्थशक्तिमूलक (अर्थशक्त्युद्भव)

ध्वनिकार के अनुसार शब्दशक्तिमूलक ध्वनि एक प्रकार का अलंकार-ध्वनि होता है। यह अलंकारध्वनि दो प्रकार का होता है—(१) पदप्रकाश्य और (२) वाक्यप्रकाश। अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के प्रथमतः दो भेद मानते हैं—(१) वस्तुरूप (२) अलंकाररूप। इनमें वस्तुध्वनि दो प्रकार की होती है—(१) प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध (२) स्वतःसम्भवी। प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध ध्वनि भी दो प्रकार का होता है—(१) पदप्रकाश्य (२) वाक्यप्रकाश्य। इसी प्रकार स्वतः-संभवी भी दो प्रकार की होती है—(१) पदप्रकाश्य और (२) अर्थप्रकाश्य। इसका एक भेद प्रवन्ध-प्रकाश्य भी होता है। इस प्रकार इसके कुल ५ भेद हुए। अलंकारध्वनि के दो भेद होते हैं—(१) अलंकारप्रकाश्य और वस्तुप्रकाश्य। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के सात भेद हुए और शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के दो भेद। इस प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के ९ भेद हुए। इसमें असंलक्ष्यक्रम

व्यंग्य के रसादिध्वनि रूप एक भेद जोड़ने पर विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के १० भेद हुए। अविवक्षितवाच्य ध्वनि के ४ भेद और विवक्षितान्यपरवाच्य के १० भेद मिलकर कुल १४ भेद होते हैं इस प्रकार ध्वनिकार आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि के १४ भेद होते हैं।

वस्तुतः ध्वनिकार के अनुसार ध्वनि के असंख्य भेद हैं। उनका कहना है कि ध्वनि की कोई नियत संख्या नहीं है। इन्होंने ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन कर ध्वनि को काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया। ध्वनि-सम्प्रदाय में इसकी प्रमुखता स्वीकार की गई और वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि को रसध्वनि में पर्यवसित बताया गया है।

व्याख्या भाग

१—"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समम्नातपूर्वः"

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य का जीवितभूत तत्त्व प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि ध्वनि-सिद्धान्त उनके पूर्ववर्ती विद्वानों के चर्चा का विषय बना हुआ था और आचार्य इसकी व्याख्या करते हैं। जैसा कि उनके 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरित बुधैर्यः समाम्नतपूर्व इस कथन से ज्ञात होता है कि काव्यतत्त्ववेता विद्वानों ने 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' इस प्रकार पहले ही व्यख्यात किया था। अर्थात् आनन्दवर्धन के पहले अनेक विद्वान ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार कर चुके थे।

आनन्दवर्धन का कहना है कि जो ध्वनि-सिद्धान्त परम्परा या विद्वानों द्वारा व्याख्यात होता रहा है और जिसका अविच्छिन्न प्रवाह चलता रहा है और जिसका किसी विशिष्ट पुस्तक में समावेश नहीं था, उस ध्वनि-सिद्धान्त की व्याख्या ध्वनिकार ने की है। यह ध्वनि-सिद्धान्त किसी एक विद्वान् द्वारा व्याख्यात नहीं किया है, किन्तु जैसा कि 'बुधैः' पद में बहुवचन के प्रयोग से ज्ञात होता है अनेक विद्वानों द्वारा प्रतिपादित हुआ है। लोचनकार का कहना है कि अनेक विद्वानों द्वारा व्याख्यात होने के कारण ही यह सिद्धान्त आदरणीय रहा है।

ध्वनिकार का कहना है कि 'ध्वनि' काव्य का सारभूत तत्त्व है तभी तो अनेक विद्वानों ने उसकी व्याख्या की है, नहीं तो सारहीन होने पर सहृदय विद्वान् इसकी व्याख्या क्यों करते ? भाव यह कि जिस प्रकार शरीर में सारभूत तत्त्व 'आत्मा' है उसी प्रकार काव्य में सारभूत तत्त्व 'ध्वनि' है। इसलिए ध्वनिकार तथा उनके पूर्ववर्ती अनेक काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वानों ने ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है।

२—"तत्र केचिदाचक्षीरन् शब्दार्थशरीर तावत् काव्यम्.......तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति ।।"

आचार्य आनन्दवर्धन ने "ध्वन्यालोक' में ध्वनि विरोधी मतों का उल्लेख कर उनका खण्डन किया है। उन्होंने ध्वनि-विरोधी मतों को तीन वर्गों में विभाजित किया है। उनमें पहला वर्ग अभाववादियों का है। अभाववाद के तीन पक्ष हैं। उनमें प्रथम पक्ष का उपस्थान ध्वनिकार ने इस प्रकार किया है—

अभाववादियों के प्रथम पक्ष का कहना है कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। उनमें शब्दगत सौन्दर्य के हेतु अनुप्रास आदि अलकार प्रसिद्ध हैं और अर्थगत सौन्दर्य के हेतु उपमा आदि अलंकार प्रसिद्ध हैं। वर्ण-संघटना के धर्म माधुर्य आदि गुण भी प्रतीत होते हैं। उनसे अर्थात् गुणों से अभिन्न उपनागरिका आदि वृत्तियाँ भी कुछ आलोचकों द्वारा प्रकाशित की गई हैं, वे भी श्रवणगोचर हुई हैं। वैदर्भी आदि रीतियाँ भी उसी प्रकार कही गई हैं। तो इन सबसे भिन्न ध्वनि की यह कौन ऐसी वस्तु है?

भाव यह कि अभाववादियों के प्रथम पक्ष वालों का कथन है कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। काव्य का तत्त्व चारुता (सौन्दर्य) है। शब्दों की चारुता अनुप्रास आदि अर्थालंकारों के द्वारा होती है और अर्थ को चमत्कृत करने वाले उपमा आदि अर्थालंकार होते हैं। वर्णों के विशिष्ट विन्यास को शब्द कहते हैं और वर्णों की चारुता माधुर्यादि गुणों के द्वारा होती है। इस प्रकार गुण और अलंकार में ही सारी चारुता (सौन्दर्य) निहित है। वृत्ति और रीति का भी हम गुणालंकार में अन्तर्भाव कर लेते हैं। उपनागरिका आदि वृत्तियाँ अनुप्रास के अलंकार के ही प्रकार हैं और वामनोक्त रीतियाँ भी माधुर्यादि गुणों के समुदाय रूप होने से गुणों से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार वृत्तियाँ और रीतियाँ दोनों ही गुणालंकार से भिन्न नहीं है। ये ही काव्य में चारुता के आधायक तत्त्व हैं। तो इनके अतिरिक्त ध्वनि नामक एक अलग से तत्त्व मानने की क्या आवश्यकता है? इसी बात को ध्वनिकार ने ही इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"तत्र शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटन धर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति। (ध्वन्यालोक, वृत्ति १।१)

३. अन्येब्रूयुः—नास्त्येव ध्वनिः।·········सकलविद्वन्मनोग्राहितामालम्बते।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिविरोधी अभाववादियों के मत को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। अभाववाद के तीन पक्ष हैं। उनमें प्रथम पक्ष के उपस्थापन के पश्चात् अब द्वितीय पक्ष को उपस्थित कर रहे हैं—

अभाववाद के दूसरे पक्ष का कहना है कि 'ध्वनि' है ही नहीं; क्योंकि काव्य के प्रसिद्ध मार्ग (गुणालंकारादि) से भिन्न अन्य किसी तत्त्व (ध्वनि-आदि) को काव्य नहीं माना जा सकता। सहृदयों को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ से युक्त होना ही काव्य का लक्षण है। उक्त मार्ग से भिन्न और कोई मार्ग नहीं है जिसमें काव्यत्व हो। यदि ध्वनि-सम्प्रदाय के अन्तर्गत किसी को सहृदय मानकर ध्वनि में काव्य का व्यवहार प्रवर्तित भी किया जाय, तो भी वह सभी विद्वानों को मान्य नहीं हो सकता।

भाव यह कि अभाववादियों को दूसरे दल का कथन है कि ध्वनि नाम की कोई भी वस्तु नहीं है। क्योंकि काव्य का एक परम्परागत प्रसिद्ध मार्ग है। काव्य के प्रसिद्ध प्रस्थान शब्द और अर्थ, तथा उनके गुण एवं अलंकार के अन्तर्गत ध्वनि का कहीं नाम ही नहीं है। सहृदयों के सहृदय को आह्लादित करने वाला शब्द और अर्थ का स्वरूप ही काव्य होता है। यही परम्परागत मार्ग है इससे भिन्न मार्ग में काव्यत्व हो ही नहीं सकता। यदि 'ध्वनि' काव्य की आत्मा है, इस प्रकार प्रसिद्धि करके ध्वनि को काव्य की संज्ञा दे भी दें तो यह सर्वमान्य मत नहीं हो सकता। अतः ध्वनि को काव्य मानंना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

४. पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयु·········यत्किञ्चन कथनं स्यात्।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन अभाववादियों के द्वितीय पक्ष को उपस्थित करने के पश्चात् तृतीय पक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। अभाववादियों का तृतीय दल अन्तर्भाववादी के नाम से अभिहित किया जाता है। ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक में अभाववाद के तृतीय पक्ष को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

अभाववादी तृतीय पक्ष वाले ध्वनि के अभाव को दूसरे रूप में कहते हैं। उनका कहना है कि ध्वनि नामक किसी अपूर्व वस्तु का होना संभव ही नहीं है क्योंकि कमनीयता (रमणीयता) का अतिक्रमण न करने के कारण ध्वनि का अन्तर्भाव चारुता के हेतुओं (गुणालंकारादि) में ही हो जायगा। उन्हीं में किसी एक का नाम 'ध्वनि' रख देने मात्र से कौन सी विशेषता आ जायगी।

भाव यह कि अभाववादियों के तीसरे दल वालों का कथन है कि ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु नहीं है। क्योंकि कमनीय तत्त्व होने के कारण ध्वनि का गुणालंकार में ही अन्तर्भाव हो जायगा। यदि आपके उन गुणालंकारों में से किसी एक का नाम बदल करके ध्वनि नाम दे देने से कौन-सी विशेषता आ जायगी ? सदहृय विद्वानों ने नई-नई विचित्रता वाले नये-नये सैंकड़ों अलङ्कारों को प्रकाशित किया है किन्तु वे आपकी तरह नाचते नहीं हैं जैसाकि आप सहृदयता की भावना से 'ध्वनि-ध्वनि' चिल्लाते हुए मदान्ध होकर नाच रहे हैं। आपका यह मत बकवास मात्र प्रतीत होता है।

५. यद्यपि ध्वनिसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः। तथापि अमुख्यवृत्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम् 'भाक्तमाहुस्तमन्ये।'

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिविरोधी जिन तीन मतों को ध्वन्यालोक में उपस्थित किया है उनमें द्वितीय मत 'भक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। भक्तिवादी आचार्य ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव कर लेते हैं। ध्वनिकार इस मत को निम्न प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

भक्तिवादी आचार्यों का कहना है कि यद्यपि काव्य का लक्षण करने वाले भट्टोद्भट, वामन आदि विद्वानों ने ध्वनि का उल्लेख करके गुणवृत्ति अथवा अन्य किसी प्रकार के काव्य को प्रकाशित नहीं किया है फिर भी उन्होंने काव्यों में अमुख्यवृत्ति (गुणवृत्ति) का व्यवहार प्रदर्शित करते हुए ध्वनि के मार्ग का किञ्चित् स्पर्श करके भी उसका लक्षण नहीं किया है, इस प्रकार की कल्पना करके कहा गया है कि 'उस ध्वनि को कुछ लोग भाक्त कहते हैं'।

भाव यह कि भक्तिवादी आचार्य ध्वनि का लक्षण में अन्तर्भाव कर लेते हैं उनका कहना है कि यद्यपि प्राचीन आचार्य भट्टोद्भट्ट आदि ने अपने ग्रन्थों में ध्वनि का उल्लेख नहीं किया है और न ध्वनिकाव्य को गुणवृत्ति ही कहा है, फिर भी उन्होंने अभिधा व्यापार के अतिरिक्त एक अन्य व्यापार अमुख्यवृत्ति (गुणवृत्ति) स्वीकार किया है। यद्यपि उन्होंने ध्वनि का लक्षण नहीं किया है तथापि वे लक्ष्यार्थ से आगे प्रतीत होने वाले ध्वन्यमान अर्थ का विरोध करने लगे थे। इस प्रकार वे ध्वनि को गुणवृत्ति (भाक्त) कहने लगे।

६. योऽर्थः सहृदयश्लाध्यः काव्यस्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।

आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि का स्वरूप बताने के पूर्व उसकी भूमिका के रूप में काव्य के दो प्रकार के अर्थों का उल्लेख करते हैं—

"जो अर्थ सहृदयों द्वारा श्लाघ्य है और काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है उसके दो भेद कहे गये हैं—वाच्य और प्रतीयमान ।"

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि ध्वनिकार ने तो प्रतिज्ञा की थी ध्वनि का स्वरूप विवेचन करने के लिए और करने लगे वाच्यार्थ का वर्णन । दूसरे ध्वनिकार के कथन से भी विरोध पड़ता है, क्योंकि ध्वनिकार प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ या ध्वनि) को काव्य की आत्मा मानते हैं और यहाँ वाच्य को भी सहृदय श्लाघ्य अर्थ के रूप में स्वीकार करते हैं । इस प्रकार जब उनके मत में ही दो प्रकार के अर्थ स्वीकार किये गये हैं तो प्रतीयमान अर्थ के साथ वाच्यार्थ भी काव्य की आत्मा होने लगेगा । इस शंका का निराकरण करने के लिए ध्वनिकार ने स्वयं लिखा है कि 'यह कारिका ध्वनि-लक्षण की भूमिका के रूप में कही जा रही है ।'

वस्तुतः ध्वनिकार के मत में ध्वनि ही काव्य का सारभूत तत्त्व है । वाच्यार्थ को तो उन्होंने ध्वनि के लक्षण की भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया है । उनके कहने का तात्पर्य यह है कि बिना वाच्चार्थ के ज्ञान हुए व्यंग्यार्थ की सम्यक् प्रतीति नहीं हो सकती अतः उन्होंने वाच्यार्थ का प्रतिपादन किया है ।

अब प्रश्न यह है कि क्या ध्वनिकार वाच्यार्थ को काव्य की आत्मा नहीं स्वीकार करते ? जब उन्होंने सहृदयश्लाध्य वाच्य और प्रतीयमान रूप दो अर्थों का उल्लेख किया है तो वाच्यार्थ को भी काव्य की आत्मा स्वीकार किया जा सकता है । किन्तु ध्वनिकार का आशय है कि उन्होंने यहाँ दोनों अर्थों का सिद्धान्त रूप में विवेचन नहीं किया है बल्कि पूर्व आचार्यों द्वारा स्वीकृत मत को उद्धृत किया है । उनके कहने का तात्पर्य है कि प्राचीन आचार्य काव्य की आत्मा के दो रूप मानते थे । उनमें कुछ आचार्य तो उपमा आदि अलंकार के रूप में (वाच्यार्थ को) काव्य की आत्मा स्वीकार करते थे । उसी को भूमिका के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया है । ध्वनिकार को तो प्रतीयमान अर्थ को ही काव्य की आत्मा मानना अभीष्ट है ।

७. तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, नतु साक्षाच्छब्दव्यापारविषयः इति वाच्याद्विभिन्न एव....।"

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के तीन प्रकार बताये हैं—वस्तुध्वनि, अलंकार ध्वनि और रसादिध्वनि। इनमें प्रथम एवं द्वितीय भेद अर्थात् वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि वाच्यार्थ से भिन्न हैं, इसका विवेचन करने के पश्चात् अब ध्वनि के तृतीय भेद रसादिध्वनि की वाच्यार्थ-भिन्नता का प्रतिपादन करते हैं—

ध्वनिकार का कथन है कि रसादिध्वनि वाच्यार्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर प्रकाशित होता है। वह कभी भी साक्षात् शब्द के व्यापार का विषय अर्थात् अभिधा का विषय नहीं होता। अतः वह रसादिध्वनि भी वाच्यार्थ से भिन्न ही होती है।

उपर्युक्त कथन का यह तात्पर्य है कि वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि ये दोनों कभी-कभी वाच्य भी हो सकते हैं किन्तु रसध्वनि कभी भी वाच्य नहीं होता, वह सदैव व्यंग्य ही रहता है। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने तो स्पष्ट लिखा है—

"रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः"

इससे यह स्पष्ट है कि ध्वनिवादी आचार्य रसादि को कभी भी वाच्य नहीं मानते। क्योंकि रस की वाच्यता दो प्रकार से हो सकती है—या तो रस, भाव, शृंगार आदि शब्दों के प्रयोग के द्वारा अथवा विभाग, अनुभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा। प्रथम पक्ष अर्थात् रस को स्वशब्द-वाच्य यदि हम मानते हैं तो रसादि या शृंगारादि के शब्दों के प्रयोग न करने पर रसादि की प्रतीति में बाधा उत्पन्न होगी; क्योंकि जहाँ पर रसादि की प्रतीति होती है वहाँ पर सब जगह रसादि का स्वशब्द से कथन नहीं होता और जहाँ पर रसादि का स्वशब्द से कथन भी होता है वहाँ पर भी विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा ही रस की प्रतीति होती है। स्वशब्द अर्थात् रस आदि शब्दों का प्रयोग तो केवल अनुवादक होता है, उनके द्वारा रसादि की प्रतीति नहीं होती। क्योंकि जहाँ पर केवल रसादि शब्दों का ही प्रयोग होता है और विभावादि का प्रतिपादन नहीं होता वहाँ पर रसास्वादन नहीं देखा जाता। इसी प्रकार जहाँ शृंगार आदि शब्दों का ही प्रयोग होता है और विभावादि का प्रतिपादन नहीं होता वहाँ थोड़ी सी भी रसानुभूति नहीं देखी जाती। और रस-शृंगारादि के प्रयोग के बिना भी

केवल विभावादि के प्रयोग से रसास्वादन देखा जाता है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध होता है कि रसादि वाच्यार्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होते हैं वे कभी भी अभिधेय अर्थात् वाच्य नहीं होते हैं।

८. शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ॥
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥

ध्वनिकार आनन्दवर्धन दो प्रकार के अर्थों (वाच्य-प्रतीयमान) का प्रतिपादन करके प्रतीयमान अर्थ की वाच्यार्थ से भिन्नता का प्रतिपादन कर चुके हैं। अब प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व की सिद्धि कर रहे हैं। यहाँ वे प्रतीयमान अर्थ का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए द्वितीय प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं—

"प्रतीयमान अर्थ तो शब्दशास्त्र (व्याकरण) और अर्थशासन (कोश आदि) के द्वारा ही नहीं जाना जाता है बल्कि वह केवल काव्यार्थ के तत्त्ववेत्ता विद्वानों द्वारा ही जाना जाता है।"

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि यह प्रतीयमान अर्थ अर्थात् रसादि-ध्वनि का ज्ञान केवल काव्यतत्त्ववेत्ताओं को ही होता है। कहते हैं कि यदि वह रसादिरूप अर्थ वाच्यरूप होता तो वाच्य-वाचक के स्वरूप-ज्ञान मात्र से ही उसकी प्रतीति हो जाती और ऐसा भी देखा जाता है कि जिस प्रकार गान-विद्या में अकुशल अर्थात् संगीत के मर्म को न जानने वाला, गानविद्या के अभ्यास से रहित केवल गान्धर्वविद्या के लक्षण में जानने वाला व्यक्ति गीतों के स्वर, श्रुति आदि के रहस्य को नहीं जान पाता, उसी प्रकार केवल वाच्य-वाचक के लक्षण मात्र का ज्ञान रखने वाला और काव्यार्थ के तत्त्व-ज्ञान से रहित व्यक्ति भी प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) को नहीं समझ सकता।

दीधितकार का कहना है कि जिस प्रकार केवल गान्धर्व-विद्या के लक्षण को जानने वाले उत्कृष्टकोटि के गीतों के स्वर, श्रुति आदि के तत्त्व को नहीं समझ पाते। उसी प्रकार केवल वाच्य-वाचक के ज्ञानमात्र से ही कोई काव्य के तत्त्व को नहीं समझ सकता। भाव यह कि जिस प्रकार संगीत के रसास्वादन से विमुख व्यक्ति साधारण संगीत का ज्ञाता होने पर भी उसके मर्म को नहीं समझ पाता, उसी प्रकार काव्यार्थ के आस्वादन से विमुख केवल वाच्य-वाचक तक ही श्रमशील व्यक्ति भी व्यंग्यार्थ के तत्त्व को नहीं समझ सकता।

९. यत्रार्थः शब्दो वा तमुपसर्जनीतीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तःकाव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

आचार्य आनन्दवर्धन वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ के अस्तित्व को प्रतिपादन करने के पश्चात् तथा वाच्य और प्रतीयमान में प्रतीयमान (व्यंग्यार्थ) की प्रधानता बताने के बाद अब उसकी उपयोगिता बताते हुए 'ध्वनि' का लक्षण कर र हैं—

"जहाँ पर शब्द और अर्थ दोनों अपने को और अपने अर्थ को उपसर्जन (गौण) बनाकर प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वान लोग 'ध्वनि' नाम से अभिहित करते हैं।"

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य है कि जहाँ पर अर्थ अपने को गौण (अप्रधान) बना देता है और शब्द अपने अभिधेय को गौण बना देता है तथा प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त किया करता है। वह काव्य-विशेष ध्वनि-काव्य कहलाता है। यहाँ पर काव्य-विशेष शब्द विचारणीय है । काव्य-विशेष शब्द से तात्पर्य है कि ध्वनि उस काव्य को कहेंगे जिस काव्य में गुण और अलंकार से उपस्कृत शब्दार्थ विद्यमान हों। यहाँ ध्वनि शब्द से वाच्य अर्थ वाचक शब्द व्यंग्य अर्थ और व्यंजना व्यापार इन चारों का ग्रहण होता है। अभिनवगुप्त ने 'ध्वनि शब्द की व्युत्पति करके उसके अन्तर्गत उपर्युक्त चारों का समावेश कर दिया है। यदि हम 'ध्वनति इति ध्वनिः' यह व्युत्पत्ति करते हैं तो इसका अर्थ वाच्यार्थ और वाचक शब्द दोनों होता है। इस प्रकार वाच्यार्थ भी ध्वनि है और वाचक शब्द भी ध्वनि है। जब 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' कर्मवाच्य में विग्रह करते हैं तो तब उसका अर्थ व्यंग्यार्थ होता है और जब हम 'ध्वननमिति ध्वनिः' इस प्रकार व्युत्पत्ति करते हैं तो इसका अर्थ होता है शब्द और अर्थ का व्यापार (व्यञ्जना) इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार वाचक शब्द भी ध्वनि है, वाच्य अर्थ भी ध्वनि है, व्यंग्य अर्थ भी ध्वनि है, व्यंजकत्व व्यापार भी ध्वनि है और इन सबका समुदाय रूप 'काव्य' भी ध्वनि है। जैसा कि लोचनकार ने कहा है—

"अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम् । व्यंग्यो वा ध्वन्यते इति । व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति । कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् ॥'

१०—यदप्युक्तम्-'प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रमणो मार्गस्य काव्यत्वहानेर्ध्वनिर्नास्ति इति' तदप्युक्तम् । यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एवं सहृदयहृदयाह्लादकारि काव्यतत्वम् ॥

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि-विरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है । उनमें एक मत अभाववादियों का है जो ध्वनि का सर्वथा अभाव मानते हैं । अभाववादियों के भी तीन पक्ष हैं । प्रस्तुत सन्दर्भ में ध्वनिकार अभाववादियों के द्वितीय पक्ष का खण्डन कर रहे हैं—

जो कि यह कहा गया है कि 'प्रसिद्ध प्रस्थान (गुण, अलंकार, रीति आदि मार्ग) का अतिक्रमण करने वाले अन्य किसी मार्ग में काव्यत्व नहीं होता, अतः एव ध्वनि नहीं है ? यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि वह ध्वनि-मार्ग केवल लक्षणकारों में ही सिद्ध नहीं है, किन्तु लक्ष्य की परीक्षा करने पर यह सिद्ध होता है कि वह ध्वनि ही सहृदयों के हृदय को आह्लदित करने वाला काव्य-तत्त्व है । उसके अतिरिक्त अन्य सब काव्य चित्रकाव्य हैं ।

यहाँ पर ध्वनिकार का कहना है कि जो अभाववादी यह कहते हैं कि गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति आदि अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध मार्ग हैं, इनके अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग में काव्यत्व होता ही नहीं है, उनका यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि ध्वनि के लक्षण करने वाले आचार्यों में ही प्रसिद्ध नहीं है, अपितु जब रामायण, महाभारत आदि लक्ष्यग्रन्थों की परीक्षा करते हैं तो उससे ज्ञात होता है कि ध्वनि ही काव्य का सारभूत तत्त्व है जो सहृदयों के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करने वाला है । कहा जाता है कि जहाँ पर ध्वनि नहीं होती वह काव्य न होकर चित्र काव्य कहा जाता है । अतः काव्य का सारभूत तत्त्व ध्वनि ही सिद्ध होता है ।

११—यदप्युक्तम्—'कमनीयकमनतिवर्त्तमानस्य तस्योक्तालंकारेष्वन्तर्भाव इति' तदप्यसमीचीनम् । वाच्य-वाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यंग्य-व्यंजक-समाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वने कथमन्तर्भावः ? वाच्य-वाचक-चारुत्व-हेतवो हि तस्याङ्गभूताः, स त्वङ्गिरूप एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् ।

ध्वनि विरोधी अभाववादियों का तृतीय दल अन्तर्भाववादी के नाम से प्रसिद्ध

है। वे ध्वनि को अलंकारादि में अन्तर्भाव कर लेते हैं, उनके मत का खण्डन करते हुए ध्वनिकार कहते हैं—

जो कि यह कहा गया है कि 'कमनीयता (चारुता) का अतिक्रमण न करने वाले ध्वनि का समावेश अलंकारादि में ही हो जाता है' उनका यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि केवल वाच्य और वाचक का आश्रय लेने वाले प्रसिद्ध काव्य मार्ग में व्यंग्य-व्यंजक भाव के आश्रय से व्यवस्थित होने वाली ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है? दूसरे वाच्य और वाचक के चारुता के हेतु अलंकारादि तो उस ध्वनि के अंगभूत हैं और ध्वनि अंगी होती है।

ध्वनिकार का कहना है कि जो ध्वनि विरोधी अभाववादी आचार्य यह कहते हैं कि ध्वनि चारुता (सौन्दर्य) का अतिक्रमण नहीं करती, अर्थात् ध्वनि के द्वारा काव्य में सौन्दर्य की प्रतीति होती है और सौन्दर्य के हेतु अलंकार, गुण आदि होते हैं, अतः इनमें ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाता है, उन लोगों का यह कहना समीचीन नहीं है। ध्वनिकार का कहना है कि गुण, अलंकारादि का मार्ग केवल वाच्य वाचक के आश्रय से स्थित होता है और ध्वनि व्यंग्य-व्यंजक के आश्रय से स्थित होती है, तो व्यंग्य-व्यंजक के आश्रित ध्वनि का वाच्य-वाचकाश्रित अलंकारादि में अन्तर्भाव कैसे होगा? क्योंकि दोनों का आश्रय भेद है।

दूसरे यह कि वाच्य-वाचक के चारुत्व (सौन्दर्य) के हेतु जो अलंकारादि हैं वे तो उस ध्वनि के अंग होते हैं और ध्वनि अंगी है। इसी बात को निम्न परिकरश्लोक में भी कहा गया—

व्यंग्य-व्यजक-सम्बन्ध-निबन्धनतया ध्वनेः।
वाच्य-वाचक-चारुता-हेत्वन्तःपातिता कुतः॥

अर्थात् ध्वनि व्यंग्य-व्यंजक भाव के सम्बन्ध से निबद्ध होती है तो वाच्य-वाचक के चारुत्व के कारण गुण और अलंकार आदि में अन्तर्भाव कैसे हो सकता है?

१२—आक्षेपेऽपि व्यग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते। तथाहि तत्र शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यंग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम्। चारुत्वोत्कर्ष-निबन्धना हि वाच्य-व्यंग्ययोः चारुत्वविवक्षा।

ध्वनि विरोधी कुछ आचार्यों ने ध्वनि को अलंकारों में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि आक्षेप अलंकार में ध्वनि का अन्तर्भाव हो सकता है, क्योंकि जहाँ पर किसी विशेष अर्थ को प्रतिपादन करने की इच्छा से इष्ट वस्तु का निषेध कर दिया जाता है वहाँ 'आक्षेप' अलंकार होता है। इस प्रकार आक्षेप अलंकार में व्यंग्य का आधान होने से इसमें ध्वनि का अन्तर्भाव हो जायगा।

ध्वनिकार का कथन है कि आक्षेप अलंकार में यद्यपि व्यंग्यार्थ विशेष का आक्षेप कर लिया जाता है, फिर भी चारुता (सौन्दर्य) वाच्यार्थ में ही होती है, क्योंकि प्रधान रूप से वाच्यार्थ आक्षेप की उक्ति के सामर्थ्य से ही हुआ करता है। और वहाँ (आक्षेप अलंकार में) विशेष बात को कहने की इच्छा से प्रतिषेध रूप जो आक्षेप होता है वह भी व्यंग्य विशेष का आक्षेप कर मुख्य रूप से काव्य शरीर होता है, वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में प्रधानता उनके सौन्दर्य के उत्कर्ष के आधार पर होती है। जैसे—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो देवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः।

"सन्ध्या (नायिका) अनुराग (लालिमा, प्रेम) से युक्त है और दिन (नायक) उस सन्ध्या-नायिका के सामने है। अहो ! दैवगति बड़ी विचित्र है, क्योंकि फिर भी दोनों का समागम नहीं हो रहा है।"

यहाँ पर अनुरागवती सन्ध्या पर नायिका का और दिवस पर नायक का आक्षेप किया गया है। नायिका भी प्रेमयुक्त है और नायक भी सामने हैं, किन्तु गुरुजनों के बन्धन के कारण दोनों का समागम नहीं हो रहा है। यद्यपि यहाँ पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है किन्तु सौन्दर्य का पर्यवसान वाच्यार्थ में होने से वाच्यार्थ की प्रधानता है। अतः व्यंग्यार्थ की प्रधानता न होने से इसे ध्वनि नहीं कहा जाता। किन्तु अलंकारों की प्रधानता के कारण उसे अलंकार ही कहा जाता हैं। अतः आक्षेप में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होगा।

१३—पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यंग्यत्वं तद् भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः, न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेन, अङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न पुनः पर्यायोक्ते भामहदाहृतसदृशे व्यंग्यस्यैव प्राधान्यम्। वाच्यस्य तत्रोपसर्जनीभावेनाविवक्षितत्वात्।

अलंकारवादी आचार्यों का कहना है कि जिन अलकारों में व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं होता, उनमें तो ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होगा, किन्तु जिन अलंकारों में व्यंग्यार्थ प्रधान होता है उनमें तो ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाना चाहिए। जैसे पर्यायोक्त अलंकार में व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है अतः पर्यायोक्त में ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाना चाहिए।

भामह पर्यायोक्त अलंकार का लक्षण दिया है कि जहाँ पर प्रकारांतर से अवगत अर्थ का अभिधान किया जाता है उसे पर्यायोक्त अलंकार कहते हैं।

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।

अर्थात् जहाँ पर वाच्य-वाचक भाव (अभिधा) से भिन्न व्यंग्य-व्यंजक भाव से कोई कथन किया जाता है वहाँ पर्यायोक्त अलंकार होता है। इस प्रकार पर्यायोक्त अलंकार में ध्वनि का अन्तर्भाव हो सकता है।

उक्त शंका का निराकरण करते हुए ध्वनिकार कहते हैं कि पर्यायोक्त में यदि व्यंग्यार्थ की प्रधानता है तो उसमें ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाना चाहिए कहते हैं कि ध्वनि का पर्यायोक्त में अन्तर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि ध्वनि का विषय (क्षेत्र) व्यापक होता है और ध्वनि अंगी (प्रधान) भी होता है। दूसरे भामह के द्वारा दिये गये पर्यायोक्त के उदाहरण में व्यंग्यार्थ की प्रधानता ही नहीं है, क्योंकि वाच्यार्थ की गौणता (अप्रधानता) विवक्षिता नहीं है। इस प्रकार पर्यायोक्त में वाच्यार्थ की प्रधानता होने से ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होगा बल्कि ध्वनि में ही उसका अन्तर्भाव हो जायगा।

१४—संकरालकारेऽपि यदालंकारेऽलंकारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यंग्यस्य प्राधान्येनानिवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम्। अलंकारद्वयसम्भावनायां तु वाच्य-व्यंग्ययोः समं प्राधान्यम्। अथ वाच्योपर्जनीभावेन व्यंग्यस्य तत्राव-स्थानं तथा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम्। पर्यायोक्तनिर्दिष्टन्यायातत्। अपि च संकरालंकरेऽपि क्वचित् संकरोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति॥

प्राचीन आलंकारिकों में संकर अलंकार में ध्वनि का समावेश मानते हैं। 'जहाँ पर दो या दो से अधिक अलंकार परस्पर सापेक्षभाव से रहते हैं वहाँ 'संकर' अलंकार होता है।' उन आचार्यों ने संकर के चार भेद माने हैं किन्तु परवर्ती आचार्य तृतीय एवं चतुर्थ भेद को एक मानकर संकर के तीन भेद मानते हैं। सन्देह संकर, एकवाक्यनुप्रवेश संकर और अंगागिंभाव संकर।

आलंकारिकों का कहना है कि संकर अलंकार के सन्देह संकर और एक-वाक्यानुप्रवेश भेदों में ध्वनि की स्पष्ट स्थिति न होने से भले ही ध्वनि का समावेश न हो, किन्तु अंगागिंभाव संकर में तो ध्वनि का समावेश हो सकता है, ध्वनिकार संकरालंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण करते हुए कहते हैं—

ध्वनिकार का कहना है कि संकर अलंकार में भी जब एक अलंकार दूसरे अलंकार की शोभा (सौन्दर्य) ग्रहण करता है तो वहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधान रूप से विवक्षा न होने से वह ध्वनि का विषय नहीं हो सकता। सन्देह संकर में भी दो अलंकारों की सम्भावना होने से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में समान प्रधानता होती है अतः यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि कौन सा अलंकार वाच्य है और कौन सा व्यंग्य ? अतः सन्देह संकर में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

जहाँ पर एक अलंकार दूसरे अलंकार का उपकारक होता है वहाँ 'अंगाङ्गिभाव' संकर होता है। जैसे—

भवति न गुणानुरागः खलानां केवलं प्रसिद्धिशरणानाम्।
किं प्रस्नौति शशिमणिः चन्द्रे न प्रियामुखे दृष्टे॥

यहाँ पर अर्थान्तरन्यास अलंकार वाच्य है और व्यतिरेक एवं अपह्नुति अलंकार व्यंग्य है। इस प्रकार ऐसे संकरालंकार के स्थानों पर व्यंग्यार्थ की प्रधानता होने से ध्वनि का विषय हो सकता है किन्तु संकर में सब जगह ध्वनि ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैसाकि पर्यायोक्त अलंकार के प्रसंग में कहा जा चुका है। दूसरे कहीं भी किसी अलंकार में संकर शब्द का कथन ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है। अतः संकरालंकार में ध्वनि का समावेश नहीं किया जा सकता।

१५—अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्ति-भावाद्वा अभिधीयनस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धस्तदाऽभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम्"……॥

अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में भी ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण करते हुए ध्वनिकार कहते हैं कि अप्रस्तुतप्रशंसा में भी ध्वनि का समावेश नहीं किया जा सकता। क्योंकि अप्रस्तुतप्रशंसा में भी जब सामान्य-विशेष भाव से

अथवा निमित्त-नैमित्तिक भाव से अभिधीयमान अप्रस्तुत का प्रतीयमान प्रस्तुत के साथ सम्बन्ध होता है। तब अभिधीयमान और प्रतीयमान दोनों की प्रधानता समान होती है। और जब अभिधीयमान अप्रस्तुत सामान्य का प्रतीयमान प्रस्तुत (प्राकरणिक) विशेष के साथ सम्बन्ध होता है तब विशेष की प्रतीति होने पर भी प्रधानता उस विशेष का सामान्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण सामान्य की भी प्रधानता होती है।

इसके अतिरिक्त जब विशेष की सामान्य-निष्ठता भी होती है तब सामान्य की प्रधानता होने पर भी सामान्य में समस्त विशेषों का अन्तर्भाव होने से विशेष की प्रधानता हो जाती है। निमित्त-नैमित्तिक भाव (कार्यकारण भाव) से होने वाली अप्रस्तुतप्रशंसा के सम्बन्ध में भी यही नियम रहता है। और जब अप्रस्तुतप्रशंसा में सादृश्य के कारण प्रस्तुत और अप्रस्तुत में सम्बन्ध होता है तब भी अभिधीयमान अप्रस्तुत की प्रधानरूप से विवक्षा न होने से ध्वनि में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशसा में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण हो जाता है।

१६—प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहारन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन के 'सूरिभिः कथितः' इस कथन से ज्ञात होता कि उनके पूर्व ध्वनि की एक परम्परा रही है जिस परम्परा में ध्वनि-विषयक विचार होता रहा है। उसी परम्परा के आधार पर इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त की व्याख्या की है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि ध्वनिकार ने अपनी इच्छा से 'ध्वनि' की कल्पना नहीं की है, बल्कि उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी इसका प्रतिपादन किया था।

अब प्रश्न यह उठता है कि वे विद्वान् कौन थे ? तो कहा जाता है कि वैयाकरण ही प्रथम विद्वान् थे, क्योंकि वैयाकरण लोग ही सर्वोच्च विद्वान् माने जाते थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम ध्वनि-सिद्धान्त का विवेचन किया है, क्योंकि व्याकरण ही समस्त विद्याओं का मूल है। वैयाकरण लोग सुनाई देने वाले वर्णों में 'ध्वनि है' इस प्रकार व्यवहार करते हैं। उसी प्रकार उन वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले दूसरे काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान् भी वाच्य-वाचक

व्यंग्यार्थ, शब्दात्मा (व्यंजना व्यापार) के लिए तथा इन चारों के समुदाय रूप 'काव्य' को इस प्रकार पाँचों को व्यंजकत्व की समानता के कारण 'ध्वनि' कहते हैं।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि वैयाकरण लोग जो सबसे प्रमुख विद्वान माने जाते हैं, श्रवणेन्द्रिय द्वारा श्रूयमाण वर्णों के लिए ध्वनि शब्द का व्यवहार करते हैं। वैयाकरण शब्द को नित्य एवं अखण्ड मानते हैं। उनके अनुसार अखण्डस्फोट वर्णों की व्यंजना ध्वनि के द्वारा होती है। इस प्रकार वैयाकरणों के मत में स्फोट व्यंग्य होता है और ध्वनि व्यंजक होती है। इसी समानता के आधार पर काव्यशास्त्र में व्यंजक शब्द को ध्वनि कहते हैं। व्यंजक दो प्रकार का होता है—वाच्यार्थ और वाचक शब्द। अभिधा, लक्षणा तात्पर्या शक्ति से भिन्न व्यंजना व्यापार भी ध्वनि है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ, व्यंजक शब्द (वाचक), व्यंजक अर्थ (वाच्यार्थ) और व्यंजना व्यापार इन चारों को ध्वनि कहते हैं और इन सबके समुदाय रूप 'काव्य' को ध्वनि कहते हैं। इस प्रकार काव्यशास्त्र में ये पाँचों की ध्वनि' संज्ञा दी गई है।

१७. येऽपि सहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्यवादिनः। यत उक्त्या नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वने सामान्य-विशेष-लक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत् सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्। यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्ताऽनया काव्यान्तरातिशायि तैः स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन अलक्षणीयतावादियों के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जो विद्वान् ध्वनि को सहृदय विद्वानों द्वारा संवेद्य अनिर्वचनीय (अलक्षणीय) कहते हैं वे भी विचार करके नहीं कहते हैं।

ध्वनिकार का कहना है कि ध्वनि अनिर्वचनीय एवं अलक्षणीय नहीं है, क्योंकि पूर्व में कहे गये और आगे कहे जाने वाले न्याय से ध्वनि के सामान्य एवं विशेष लक्षणों के प्रतिपादित कर देने पर भी यदि ध्वनि को अनिर्वचनीय या अलक्षणीय कहा जाता है तो यह नियम सब जगह प्रसक्त हो जायगा। यदि वे विद्वान् अतिशयोक्ति के द्वारा ध्वनि के दूसरे काव्यों को अतिक्रमण करने वाले स्वरूप को कहते हैं तो वे भी उचित ही कहते हैं।

अलङ्कारशास्त्र के प्रमुख आचार्य और उनकी रचनाएँ

संस्कृत साहित्य में अलंकारशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अलंकारशास्त्र की प्रथम उद्भावना भारतवर्ष में संस्कृत साहित्य में हुई है। किन्तु इस शास्त्र का प्रारम्भ कब हुआ और कौन-सा ग्रन्थ पहले लिखा गया, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। राजशेखर के मतानुसार अलंकार-शास्त्र का प्रारम्भ ईश्वर से हुआ है। भगवान श्रीकृष्ण शिव अलंकारशास्त्र के प्रथम आचार्य थे। उन्होंने काव्यशास्त्र का प्रथम उपदेश ब्रह्मा आदि शिष्यों को दिया और ब्रह्मा ने अपने मानस पुत्रों को पढ़ाया। उनमें सरस्वती का पुत्र काव्यपुरुष भी एक था। उसने ही तीनों लोक में अलंकारशास्त्र का प्रसार किया। काव्यपुरुष ने काव्य-विद्या को अठारह पुत्रों को पढ़ाया। इन शिष्यों ने गुरु द्वारा प्राप्त काव्य-विद्या के अठारह अंगों पर अठारह ग्रन्थों का निर्माण किया। किन्तु उनके अस्तित्व एवं कृतियों का पता नहीं चलता। काव्यशास्त्र के जिन आचार्यों के विषय में जानकारी उपलब्ध है उनमें से कुछ आचार्यों का तथा उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

१—महर्षि वाल्मीकि

महर्षि वाल्मीकि संस्कृत साहित्य के आदि कवि ही नहीं, बल्कि प्रथम आलोचक भी थे। उनके मुख से क्रौञ्च पक्षी के करुण विलाप को सुनकर सहसा यह वाणी फूट पड़ी—

> **मा निषाद ! प्रतिष्ठास्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।**
> **यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ॥**

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए महर्षि ने लिखा है—

> **समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।**
> **सोऽनुव्याहरणाद् भूय शोक्क श्लोकत्वमागत ॥**

महर्षि ने यहाँ पर 'शोक' और 'श्लोक' का समीकरण किया है। महाकवि कालिदास ने 'शोक' और 'श्लोक' का समीकरण करने वाले महर्षि वाल्मीकि को महान् आलोचक कहा है—

तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी,
कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः,
श्लोकत्वापद्यत यस्य शोकः।

महर्षि के उक्त श्लोक में 'असंलक्ष्यक्रमकव्यंग्य' ध्वनि है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने महर्षि के उक्त समीकरण से प्रभावित होकर तीनों ध्वनियों में श्रेष्ठ 'रसध्वनि' को ही काव्य की आत्मा माना है।

काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

महर्षि वाल्मीकि का 'रामायण' संस्कृत-साहित्य का आदिकाव्य है इसके रचनाकाल के विषय में विद्वानों में एकमत नहीं हैं, किन्तु अधिकांश विद्वान् रामायण का रचनाकाल पाणिनि के पश्चात् ई० पू० षष्ठ शताब्दी मानते हैं। रस की दृष्टि से रामायण सर्वश्रेष्ठ काव्य है, इसमें करुण प्रधान रस है। रसध्वनि के अन्य भेदों के अनेक उदाहरण रामायण में मिलते हैं।

२. आचार्य नन्दिकेश्वर

अलंकारशास्त्र के इतिहास में आचार्य नन्दिकेश्वर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। राजशेखर ने नन्दिकेश्वर को रस का प्रतिष्ठाता बतलाया हैं किन्तु उनका रसाविषयक ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। नन्दिकेश्वर भरत के पूर्ववर्त्ती आचार्य थे। अभिनवगुप्त ने उनका उल्लेख अभिनवभारती में किया है। शारदातनय् के अनुसार नन्दिकेश्वर भरत के गुरु थे। भगवान शिव के आदेश से उन्होंने भारत को नाट्यशास्त्र की शिक्षा दी थी। नाट्यशास्त्र में लिखा है कि नन्दी (तण्डु) ने भारत को अङ्गहारों, करणों और रेचकों का उपदेश दिया था। अभिनवगुप्त के अनुसार तण्डु का ही द्वितीय नाम नन्दी या नन्दिकेश्वर था। तण्डुमुनिशब्दौ नन्दिभरतयोरपरनाम्नी)। रामकृष्ण कवि ने भी नन्दिकेवश्र और तण्डु को एक ही व्यक्ति बताया है, तण्डु ने ही 'ताण्डव' नृत्य का अविष्कार किया था।

नन्दिकेश्वर संगीत के भी आचार्य थे। संगीत की शिक्षा इन्होंने शिव

---

१. संस्कृत आलोचना का विकास—डा० पारसनाथ द्विवेदी

से प्राप्त की थी। नाट्यशास्त्र के काव्यमाला संस्करण के अन्त में लिखा है—"समाप्तश्चायं नन्दिभरतसंगीतपुस्तकम्" इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने संगीत पर पुस्तक लिखी थी। रामकृष्ण कवि का कहना है कि नन्दिकेश्वर ने 'नन्दिकेश्वर संहिता' नामक ग्रन्थ लिखा था, किन्तु इस ग्रन्थ का बहुत-सा भाग नष्ट हो गया। अवशिष्ट अंश वर्तमान 'अभिनय-दर्पण' है। अभिनय-दर्पण अभिनय परक ग्रन्थ है। इसमें अभिनय के विभिन्न प्रकारों का विस्तृत विवेचन है। नन्दिकेश्वर का एक दूसरा ग्रन्थ 'भरतार्णव' है। यह अभिनयदर्पण का पूरक ग्रन्थ कहा जाता है। इसमें संगीत विषयक विविध विषयों पर विचार किया गया है।[1]

३. भरत

आचार्य भरत नाट्यशास्त्र के आद्य आचार्य माने जाते हैं। उनकी रचना 'नाट्यशास्त्र' है 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता एवं काल के सम्बन्ध में विविध मत पाये जाते हैं। शारदातनय के अनुसार भरत एक व्यक्ति का नाम नहीं है। भरत एक जाति थी जो नट का कार्य करती थी। शारदातनय ने लिखा है कि शिव ने नन्दिकेश्वर को आज्ञा दी थी कि वह भरत को शिक्षा दे। भरत जब पाँच शिष्यों के साथ ब्रह्मा के पास उपस्थित हुए तो ब्रह्मा ने उनसे कहा—'नाट्यवेदं भरत' इस प्रकार तुम भरत के नाम से प्रसिद्ध हो जाओगे। इसलिए अभिनेता 'भरत' कहलाये। शारदातनय के अनुसार भरतों ने नाट्यवेद से सार (तत्त्व) लेकर नाट्यशास्त्र के दो रूप तैयार किये। एक में १२००० श्लोक थे, जिसके रचयिता वृद्धभरत थे। दूसरे में ६००० श्लोक थे, जिसके रचयिता भरत थे।[2] नाट्यशास्त्र के तीन भाग हैं—(१) सूत्रभाग, (२) कारिका भाग और (३) आनुवंश्य श्लोक। कहा जाता है कि नाट्यशास्त्र का वर्तमान रूप मूल नाट्यशास्त्र से भिन्न है। इसमें कुल ३६ अध्याय हैं काव्यमाला सस्करण में ३७ अध्याय हैं। इन अध्यायों में नाट्य की उत्पत्ति, अभिनय से सम्बद्ध विषय, रस, भाव, गुण, अलंकार, दोष, एवं संगीत विषयों की मीमांसा की गई है। मैकडानल, लेवी, काणे आदि विद्वान् नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ई० पू० प्रथम शताब्दी मानते हैं। नाट्यशास्त्र की सबसे प्रमुख टीका अभिनव-भारती है। इसके लेखक अभिनवगुप्त हैं। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र पर और बहुत सी टीकाएँ लिखी गई हैं।

---

१. देखिये—संस्कृत आलोचना का विकास—डा० पारसनाथ द्विवेदी
२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—काणे

४. अग्निपुराण

अग्निपुराण के ३३६—३४७ अध्यायों में काव्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन है। काव्यप्रकाश की काव्यादर्श की टीका में महेश्वर ने लिखा है कि भरतमुनि ने सुकुमार राजकुमारों को अलंकारशास्त्र में प्रवृत्त कराने के लिए अग्निपुराण से उद्धृत कर अलंकारशास्त्र की रचना की।

सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा अलंकारशास्त्रे प्रवर्त्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादनकरणमलंकारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्। (सं० का० इ०; काणे, पृ० ४)

विद्याभूषण की भी यही मान्यता है कि भरत ने वह्निपुराण से साहित्य विद्या को लेकर नाट्यशास्त्र की रचना की। सिल्वालेवी ने भी इसी मत को मान्य किया है कि नाट्यशास्त्र की कारिकाएँ अग्निपुराण से ली गई हैं। इससे सिद्ध होता है कि व्यासकृत अग्निपुराण के ही काव्यशास्त्र विषयक वे अध्याय होंगे, जिससे लेकर भरत ने नाट्यसंग्रह बनाया।[1] अग्निपुराण में कुल १६००० पद्य हैं। इसमें ३३६-३४७ तक ११ अध्यायों में काव्यशास्त्रीय विषय का विवेचन है। अग्निपुराण का काव्यशास्त्र-विवेचन भामह आदि से विलक्षण है। इसमें काव्य का स्वरूप, काव्य के भेद, नाट्यशास्त्रीय विषय, रस, भाव, गुण रीति, वृत्ति, अभिनय, अलंकार, गुण, दोष आदि विषयों का सम्यक् प्रतिपादन है। रस के विषय में अग्निपुराण की मौलिक देन है। उसमें रस का दार्शनिक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

५—भामह (छठी शताब्दी)

अलंकारशास्त्र के इतिहास में आचार्य भामह का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। भामह के देश, काल के सम्बन्ध कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता। उनके जीवन-परिचय के सम्बन्ध में काव्यालंकार में केवल निम्नलिखित श्लोक मिलता है—

सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्॥

(काव्यालंकार, भामह ६।६४)

उपर्युक्त श्लोक से ज्ञात होता है कि भामह के पिता का नाम 'रक्रिलगोमिन्' था। ये कश्मीर के रहने वाले थे। काव्यालंकार के मङ्गलाचरण में

---

१. देखिये—अग्निपुराण का रचनाकाल—डा० पारसनाथ द्विवेदी

इन्होंने 'सार्व, सर्वज्ञ' को प्रणाम किया है। अमरकोश में 'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धः' सर्वज्ञ को बुद्ध कहा गया है। इस आधार पर कुछ विद्वान् इन्हें बौद्ध मानते हैं। किन्तु ये बौद्ध नहीं प्रतीत होते क्योंकि इन्होंने बौद्धन्याय का आचार्य होते हुए भी बौद्धों के प्रमुख सिद्धान्त 'अपोहवाद' का खण्डन किया है। दूसरे अमरकोश में भगवान् शंकर को भी सर्वज्ञ कहा गया है (सर्वज्ञो धूर्जटिः) इसके अतिरिक्त इन्होंने रामायण, महाभारत के अनेक आख्यानों का उल्लेख किया है। इन आधारों पर विद्वानों का कहना है कि भामह बौद्ध नहीं, बल्कि ब्राह्मण थे। और संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे।

भामह के समय के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद है। कुछ विद्वान भामह को दण्डी का परवर्ती मानते थे, किन्तु अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि भामह दण्डी के पूर्ववर्ती हैं। भामह के काव्यालंकार पर उद्भट ने 'भामह विवरण' नामक व्याख्या लिखी है। उद्भट का समय आठवीं शताब्दी माना जाता है। इस आधार पर भामह उद्भट के पूर्वीवर्त्ती सिद्ध होते हैं। अनेक प्रमाणों के आधार पर विद्वानों ने इनका समय छठी शताब्दी निश्चित किया है।

भामह की प्रमुख रचना 'काव्यालंकार' है। काव्यालंकार छः परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में काव्य के प्रयोजन, कवि की योग्यता, काव्य का लक्षण एवं भेदों का निरूपण किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में अनुप्रासादि शब्दालंकार और उपमा आदि अर्थालंकारों का और तृतीय परिच्छेद में अवशिष्ट २३ अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। चतुर्थ परिच्छेद में १० प्रकार के दोषों के लक्षण एवं उदाहरण दिए गये हैं। पंचम परिच्छेद में ११ वें दोष का लक्षण एवं उदाहरण, न्यायविरोधी दोष एवं न्यायनिर्णय किया गया है। छठें परिच्छेद में 'शब्द-शुद्धि' का विवेचन है।

भामह की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं—शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य मानना, भारत के द्वारा वर्णित दश गुणों का अपने गुणत्रय में अन्तर्भाव करना, वक्रोक्ति को समस्त काव्यों का जीवितभूत तत्त्व मानना, दशविध दोषों का सुन्दर विवेचन रीति पर आग्रह न करके काव्यगुणों का महत्त्व बताना। भामह अलंकार-सम्प्रदाय के प्राचीनतम आचार्य माने जाते हैं। उन्हें वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का प्रतिष्ठाता कहा जा सकता है।

६—दण्डी (सातवीं शताब्दी)

दण्डी अलङ्कार-शास्त्र के प्रमुख आचार्य हैं। ये दक्षिण भारत के रहने वाले पल्लव नरेश सिंहविष्णु के सभापति थे। दण्डी के 'अवन्तिसुन्दरी कथा' के प्रसङ्ग से ज्ञात होता है कि ये भारवि के प्रपौत्र थे। भारवि के पूर्वज गुजरात के रहने वाले थे, वे वहाँ से दक्षिण में अचलपुर में आकर रहने लगे। भारवि के मध्यमपुत्र मनोरथ के चतुर्थ पुत्र वीरदत्त के पुत्र का नाम दण्डी था। इस प्रकार ज्ञात होता है कि दण्डी दक्षिण भारत के रहने वाले थे। उनके समय के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद है। मैक्समूलर, वेवर प्रभृति विद्वान् दण्डी का समय छठी शताब्दी बताते हैं किन्तु जैकोबी, पीटरसन, पोद्दार आदि विद्वान् अनेक प्रमाणों के आधार पर दण्डी का समय सप्तम शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानते हैं। और यही मत समीचीन प्रतीत होता है।

दण्डी के तीन ग्रन्थों के अस्तित्व का पता चलता है। सूक्तिमुक्तावली में दण्डी के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूक्ति मिलती है—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो वेदास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥

इस कथन से ज्ञात होता है कि दण्डी ने तीन ग्रन्थों की रचना की थी। वे तीन ग्रन्थ हैं—

१—काव्यादर्श (अलङ्कारशास्त्र का ग्रन्थ है)
२—दशकुमारचरित (दश राजकुमारों की कथा वर्णित है)
३—अवन्तिसुन्दरी कथा (गद्य-काव्य)

कुछ विद्वान् 'दशकुमार-चरित' और 'काव्यादर्श' के एक कर्त्तृत्व के विषय में सन्देह उत्पन्न करते हैं। क्योंकि दण्डी के काव्यलक्षण के अनुसार 'दशकुमार चरित' दोषयुक्त प्रतीत होता है।

क्षेमेन्द्र का कथन है कि दण्डी ने जिस समय दशकुमार-चरित्र की रचना की थी उस समय वे तरुण एवं अनुभवहीन थे और 'काव्यादर्श' उनकी प्रौढ़ बुद्धि की रचना है।[1] अतः दण्डी को दशकुमार-चरित का रचयिता मानने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती।

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—काणे

दण्डी की सबसे प्रमुख ग्रन्थ 'काव्यादर्श' है। इसमें अलङ्कार-शास्त्र का विवेचन है। इसका अनुवाद तिब्बती भाषा में भी हुआ है। इस ग्रन्थ में कुल तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य-लक्षण, काव्यभेद, रीति, गुण और काव्यहेतु आदि विषयों का विवेचन है। द्वितीय परिच्छेद में अलङ्कार शब्द की व्याख्या तथा ३५ अलङ्कारों का विस्तृत विवेचन है। तृतीय परिच्छेद में यमक, चित्रबन्ध काव्य, प्रहेलिका तथा दश प्रकार के दोषों का विस्तृत वर्णन है।

दण्डी केवल अलङ्कारशास्त्र के ही आचार्य नहीं थे, बल्कि सरस काव्य लेखक भी थे। पद-लालित्य के लिए तो वे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं (दण्डिनः पदलालित्यम्)। दण्डी ने सर्वप्रथम वैदर्भी और गौड़ी रीतियों में पारस्परिक भेद बतलाकर वैदर्भी रीति का प्राण दश गुण बतलाया है।

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः।

इससे वे रीति-सम्प्रदाय के मार्गदर्शक माने जा सकते हैं, वस्तुतः दण्डी अंशतः रीति-सम्प्रदाय के समर्थक हैं और अंशतः अलङ्कार-सम्प्रदाय के; क्योंकि उनके ग्रन्थ में गुण एवं अलङ्कार दोनों का विस्तृत विवेचन है।[१] दण्डी की अलङ्कार, गुण, रीति का विवेचन मौलिक एवं विस्तृत है अतः अलंकारशास्त्र में उनका आदरणीय स्थान है।

७—उद्भट (अष्टम शताब्दी)

उद्भट अलंकार-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्यों में प्रमुख माने जाते हैं। परवर्ती आचार्यों ने इनका उल्लेख बड़े आदर से किया है। इनका पूरा नाम भट्टोद्भट था। ये काश्मीर के निवासी और जयादित्य के सभापण्डित थे। कल्हण की राजतरंगिणी में एक उद्भट का उल्लेख है जो काश्मीर नरेश जयादित्य का सभापण्डित था और प्रतिदिन उनसे एक लाख दीनार वेतन पाता था—

विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्त्तुः सभापतिः॥

जयादित्य का समय ७७९-८१३ ई० के मध्य माना जाता है। अतः उद्भट का समय आठवीं शताब्दी का अन्तिम भाग होना चाहिए। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में अनेक स्थानों पर उद्भट का उल्लेख किया है उनका समय ८५० ई०

---

२. संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास—काणे

के पूर्व माना जाता है। क्योंकि आनन्दवर्धन अवन्तिवर्मा के शासन काल में प्रसिद्ध हो चुके थे। अवन्तिवर्मा का समय ८५५ से ८८४ के मध्य माना जाता था। अतः आनन्दवर्धन का समय इससे पूर्व नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है और उद्‌भट का समय उससे भी पूर्व अर्थात् अष्टम शताब्दी का उत्तरार्द्ध ठहरता है। उद्‌भट के तीन ग्रन्थ मिलते हैं—

१—काव्यालंकारसारसंग्रह
२—'भामहविवरण (भामह के काव्यालंकार की टीका)
३—कुमारसंभव (कालिदास के कुमारसंभव के आधार पर लिखा गया एक लघु-काव्य)

उद्‌भट के 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में ६ वर्गों लगभग ४१ अलंकारों का विवेचन है। उन्होंने वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक ढंग से अलंकारों का विवेचन किया है। उद्‌भट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है—

१. अर्थभेद से शब्द भेद की कल्पना (अर्थभेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्ते इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः)।
२. श्लेष के दो भेद—शब्दश्लेष, और अर्थश्लेष, और दोनों को अर्थालंकार मानना।
३. श्लेष की अन्य अलंकारों की प्रमुखता और अन्य अलंकारों की गौणता।
४. वाक्य का तीन प्रकार से अभिधाव्यापार।
५. अर्थ की द्विविध कल्पना—विचारितसुस्थ और विचारितरमणीय।
६. काव्यगुणों को संघटना का धर्म बताना।
७. व्याकरण पर आधारित उपमा के उत्तरवर्त्ती भेदों का विस्तृत निरूपण।
८. शृंगारादि रसों की अभिव्यक्ति तत्तत् शब्दों द्वारा तथा चार अन्य प्रकारों से मानना।

उद्‌भट के 'काव्यालंकारसारसंग्रह' की दो टीकाएँ हैं—

१—प्रतिहारेन्दु राज कृत 'लघुवृति तथा २—उद्‌भट विवेक।

८—वामन (अष्टम शताब्दी)

वामन अलङ्कारशास्त्र के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। ये काव्य-जगत् में रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। वामन उद्भट के प्रतिद्वन्द्वी आचार्य और समकालिक थे। कल्हण के अनुसार ये काश्मीर नरेश जयादित्य के मन्त्री थे—

मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभुवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥

बूलर के अनुसार जयादित्य के मन्त्री वामन ने 'काव्यालंकारसूत्र' की रचना की। जयादित्य का समय ७७९ से ८१३ ई० के मध्य माना जाता है। अतः वामन का समय ८०० ई० के लगभग होना चाहिए। आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में उद्धृत 'अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः' श्लोक की व्याख्या करते हुए लोचनकार ने लिखा है' 'वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिः" इस कथन से ज्ञात होता है कि वामन आनन्दवर्धन की पूर्ववर्त्ती थे। उनका समय ८५० ई० के आस पास माना जाता है अतः वामन का समय इसके पूर्व ८०० ई० के लगभग होना चाहिए।

वामन के ग्रन्थ का नाम है 'काव्यालंकारसूत्र'। इसके तीन भाग हैं—सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। इनमें सूत्र और वृत्ति के लेखक तो वामन स्वयं हैं किन्तु उदाहरण अधिकांशतः दूसरे से लिए गये हैं। यह ग्रन्थ पाँच अधिकरणों में विभक्त है। इसमें कुल १२ अध्याय ३१९ सूत्र हैं। प्रथम अधिकरण में तीन अध्याय हैं। इसमें काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु तथा रीतियों का विवेचन है। द्वितीय अधिकरण में पद, वाक्य और वाच्यार्थ के दोषों का निरूपण हैं। तृतीय अधिकरण के दो अध्यायों में गुण और अलंकार का भेद तथा गुणों का विवेचन है। चतुर्थ अधिकरण में तीन अध्यायों में यमक, अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों का विस्तृत वर्णन है। पञ्चम अधिकरण के दो अध्यायों में शब्दशुद्धि का निरूपण है।

वामन रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है (रीतिरात्मा काव्यस्य) इसके अतिरिक्त वामन की कुछ और नवीन मान्यताएँ भी हैं—

१—गुण और अलंकारों में परस्पर भेद स्थापित करना।

2—वैदर्भी, गौणी और पांचाली, इन तीन रीतियों की स्वीकृति।

३—वक्रोक्ति की अर्थालंकारों में गणना तथा 'साहश्याल्लक्षणा' यह लक्षण मानना।

४—विशेषोक्ति का विचित्र लक्षण करना।

५—'आक्षेप' नामक अलंकार के दो अर्थ करना।

६—समग्र अर्थालंकारों को उपमा-मूलक मानना।

७—दस प्रकार के गुणों को शब्दगत एवं अर्थगत भेद मानकर बीस प्रकार के गुणों की कल्पना।

९—रुद्रट (नवम शताब्दी)

रुद्रट अलंकारशास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्य हैं। इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में कम जानकारी मिलती है। नाम से ये काश्मीरी प्रतीत होते हैं। काव्यालंकार के प्रमुख टीकाकार नमिसाधु के एक लेख से ज्ञात होता है कि रुद्रट का दूसरा नाम शतानन्द भी था और इनके पिता का नाम वासुकभट्ट और ये सामवेदी थे।[1] राजशेखर, प्रतिहारेन्दुराज, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि आचार्यों ने रुद्रट का निर्देश किया है। रुद्रट ध्वनि-सिद्धान्त से अपरिचित था। प्रतिहारेन्दुराज का समय ९०० ई० तथा आनन्दवर्धन का समय ८५० ई० माना जाता है। अतः रुद्रट का समय इसके पूर्व अर्थात् नवम् शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है।

रुद्रट का एकमात्र ग्रन्थ 'काव्यालंकार' है। इसमें १६ अध्याय और ७३४ श्लोक हैं। इनमें ११ अध्यायों में अलंकारों का वर्णन तथा अन्तिम चार अध्यायों में रस-मीमांसा है। रुद्रट ने अलंकारों का वैज्ञानिक ढंग से विभाजन किया है। इन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चारों को अलंकारों का मूलतत्त्व कहा है, और इन्हीं के आधार पर इन्होंने अलंकारों को चार वर्गों में विभाजित किया है—वास्तवमूलक, औपम्यमूलक, अतिशयमूलक और श्लेषमूलक। इन्होंने अलंकारों को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है।

रुद्रट की कुछ नवीन मान्यताएँ निम्न प्रकार हैं—

१—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण।

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्र—उपाध्याय

२—'भाव' नामक एक नवीन अलंकार की कल्पना।

३—नौ रसों के अतिरिक्त प्रेय नामक दसवें रस को स्वीकार करना।

४—नायक-नायिका भेद का विस्तार से वर्णन करना।

५—रीति को विशेष महत्त्व न देना।

३—गुणों के विवेचन का अभाव।

१०. आनन्दवर्धन (नवम शताब्दी)

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्द्धन का अलंकारशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्याकरणशास्त्र के इतिहास में जो स्थान पाणिनि का और वेदान्तदर्शन में जो स्थान शंकराचार्य का है वही स्थान काव्य-शास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन का है। आनन्दवर्धन काश्मीर नरेश अवन्ति-वर्मा के सभापण्डित थे। इन्हें 'राजानक' की उपाधि प्राप्त हुई थी जो प्रायः काश्मीरी विद्वानों को सम्मानार्थ प्राप्त होती रही है। इनका जन्म काश्मीर के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम 'नोणोपाध्याय' था।

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उद्भट का निर्देश किया है (तत्र भवद्भिः भट्टोद्भटादिभिः) उद्भट का समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है, अतः आनन्दवर्धन का समय उसके बाद होना चाहिए। राजशेखर ने 'आचार्य आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है (प्रतिभाव्युत्पत्योः प्रतिभा श्रेयसी इत्यानन्दः) राजशेखर का समय ९००-९२५ के आस-पास माना जाता है अतः आनन्दवर्धन का समय इसके पूर्व नवम शताब्दी होना चाहिए। आनन्दवर्धन अवन्तिवर्मा के राज्य में ख्याति को प्राप्त हो चुके थे। अवन्तिवर्मा का समय ८५५-८८३ ई० तक माना गया है। अतः आनन्दवर्धन का समय नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

आनन्दवर्धन व्याकरण, दर्शन, काव्यशास्त्र आदि अनेक विषयों के विद्वान् थे। इन्होंने निम्नलिखित ग्रंथों की रचना की है।

१—ध्वन्यालोक

२—देवीशतक

३—विषमबाणलीला

४—अर्जुनचरित

५—तत्त्वालोक

६—धर्मोत्तमा विवृति।

ध्वन्यलोक इनकी कीर्ति का आधार स्तम्भ है। इसमें कुल चार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि, ध्वनि विरोधी मतों का खण्डन तथा ध्वनि के स्वरूप पर विचार किया गया है। द्वितीय उद्योत में ध्वनि के भेद रस, गुण, एवं अलंकारों का विवेचन है। तृतीय उद्योत में व्यन्जक की दृष्टि से ध्वनि-भेद, रीति एवं वृत्तियों पर विवेचन किया गया है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि के प्रयोजन तथा महत्त्व पर विचार किया गया है। 'देवीशतक' भगवती दुर्गा की आराधना के लिए लिखा गया है। 'विषमबाणलीला' और 'अर्जुनचरित' ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। 'धर्मोत्तमा' धर्मकीर्ति के 'प्रमाण विनिश्चय' की टीका है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना कर आलोचना के क्षेत्र में नवीन दिशा प्रदान की है।

११. राजशेखर (दशम शताब्दी)

राजशेखर 'यायावर' कुल में उत्पन्न अकालजलद के प्रपौत्र और दुर्दुक के पुत्र थे। इनकी माता का नाम शीलवती था। इनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी चौहानवंशीय क्षत्रिया विदुषी थीं। इनके पूर्वज महाराष्ट्र के रहने वाले थे। 'कर्पूरमंजरी' से ज्ञात होता है कि राजशेखर कन्नौज के शासक महेन्द्रपाल का गुरु था। राजशेखर कई भाषाओं का ज्ञाता था। राजशेखर ने उद्‌भट तथा आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन का समय अवन्तिवर्मा का शासनकाल ८५० ई० माना जाता है। अतः राजशेखर का समय इसके बाद होना चाहिए। धनपाल ने तिलकमञ्जरी में यायावर के पद्यांशों की प्रशंसा की गई है। तिलकमञ्जरी का समय १००० ई० के लगभग माना जाता है अतः राजशेखर का समय इसके पूर्व होना चाहिए। इस प्रकार राजशेखर आनन्द-वर्धन के पश्चात् तथा धनपाल के पूर्ववर्ती दशम शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है।

राजशेखर की रचनाओं का अनुमान लगाना कठिन है। बालरामायण के अनुसार उनकी छः रचनाएँ थीं। उनमें चार रूपक तथा एक काव्यशास्त्रीय लक्षण ग्रन्थ उपलब्ध है—

१—बालरामायण (यह १० अंकों का महानाटक है)
२—बालभारत या प्रचण्ड पाण्डव (अपूर्व नाटक है)
३—विशालसिद्धभञ्जिका (यह नाटिका है)

४—कर्पूरमञ्जरी (चार अंकों का सट्टक है)
५—काव्यमीमांसा (काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है)

काव्य मीमांसा विविध विषयों की जानकारी देने वाला काव्यशास्त्रीय कोष है। इसमें कुल १८ अध्याय हैं जिनमें कवियों के व्यवहारोपयोगी विषयों का विवेचन है। इसमें भौगोलिक विषयों का अच्छा वर्णन है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में अपने से पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों तथा उनके सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। काव्य-मीमांसा में उन्होंने अपने को 'कविराज' बताया है। कविराज का ग्रन्थ पाण्डित्यपूर्ण शैली में लिखा गया काव्य-शिक्षा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

१२. मुकुलभट्ट (दशम शताब्दी)

मुकुलभट्ट की एकमात्र रचना 'अभिधावृत्त मात्रिका' है। इनके पिता का नाम भट्ट कल्लट था। भट्ट कल्लट काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे। अवन्तिवर्मा का समय ८५५-८८३ ई० माना जाता है। इस प्रकार मुकुल-भट्ट इसके बाद अर्थात दशमी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रहे होंगे, ऐसा अनुमान किया जाता है। इनकी एकमात्र कृति 'अभिधावृत्त मात्रिका' में केवल १५ कारिकाएँ हैं। इसमें अभिधा तथा लक्षणा का विशिष्ट विवेचन है। किन्तु लक्षणा को अभिधा का ही एक अंग स्वीकार किया गया है। मम्मट ने इसी आधार पर 'शब्दव्यापारविचार' नामक ग्रन्थ की रचना की है।

१३. अभिनवगुप्त

अलंकार शास्त्र के इतिहास में आचार्य अभिनवगुप्त का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। ये शैवदर्शन के महान् आचार्य एवं प्रतिभाशाली विद्वान् थे। ये तन्त्रशास्त्र के भी विद्वान् थे। 'परात्रिंशिका विवरण नामक ग्रन्थ से इनके जीवन-परिचय के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। इनके पूर्वज काश्मीर नरेश ललितादित्य के आमन्त्रण पर काश्मीर में आकर बस गये थे। इनके पितामह का नाम वराहगुप्त और पिता का नाम 'चुखल' था। अभिनवगुप्त के पिता का वास्तविक नाम नृसिंह गुप्त था, किन्तु वे 'चुखल' के नाम से प्रसिद्ध थे। अभिनवगुप्त शिव के बड़े भक्त थे।

अभिनवगुप्त का समय दशम शताब्दी का अन्तिम भाग या ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है। इन्होंने 'भैरव-स्तोत्र' की रचना ९९३ ई० के आस-पास की थी। उन्होंने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' की रचना १०१४-१५ में की थी—

"इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरेऽन्त्ये युगांशे,
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने ।
जगति निहितबोधां ईश्वरप्रत्यभिज्ञां,
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः ।

इससे ज्ञात होता है कि इनका समय दशम शताब्दी का अन्त तथा एकादश शताब्दी का प्रारम्भ रहा होगा । इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी, जिनकी संख्या लगभग ४० है जिनमें निम्नलिखित ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं—

१—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी (दर्शनशास्त्र का ग्रन्थ)
२—तन्त्रालोक (यह तन्त्रशास्त्र का ग्रन्थ है)
६—अभिनव भारती (नाट्यशास्त्र की टीका)
४—ध्वन्यालोक लोचन (ध्वन्यालोक की टीका)
५—काव्यकौतुकविवरण (काव्यकौतुक का विवरण)

अभिनव भारती—भरत के नाट्यशास्त्र की टीका है । इसमें प्राचीन आलंकारिकों एवं संगीताचार्यों के मतों का उल्लेख किया गया है । यह टीका इतनी महत्त्वपूर्ण है कि यह टीका न होकर एक मौलिक ग्रन्थ बन गया है ।

ध्वन्यालोक लोचन—आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक की महत्त्वपूर्ण टीका है । यह टीका अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण है । इसमें भी प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख है ।

काव्यकौतुकविवरण—भट्टतौत के काव्यकौतुक की विस्तृत व्याख्या है । यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । केवल अभिनवभारती में उद्धरण मात्र मिलता है ।

अभिनवगुप्त रस-सिद्धान्त के परम पोषक थे । इन्होंने रसध्वनि को काव्य की आत्मा का स्थान प्रदान किया है । ये शैवदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् थे ।

१४. कुन्तक

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक का अलंकारशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है । इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का जीवितभूत तत्त्व मान-कर 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' की स्थापना की है । कुन्तक को 'राजानक' की उपाधि मिली थी, जो प्रायः काश्मीरी विद्वानों को सम्मानार्थ मिलती रही है । इससे ज्ञात होता है कि ये काश्मीर के निवासी थे । कुन्तक ने आनन्दवर्धन तथा राजशेखर के ग्रन्थों से अनेक उद्धरण लिये हैं इससे प्रतीत होता है कि वे उनके

पश्चात् रहे होंगे। महिमभट्ट ने कुन्तक के सिद्धान्तों का 'व्यक्ति-विवेक' में खण्डन किया है। महिमभट्ट का समय एकादश शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। इस प्रकार कुन्तक का समय दशम शताब्दी का अन्त तथा एकादश शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

कुन्तक की प्रमुख रचना 'वक्रोक्तिजीवित' है। 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' के तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिका और वृत्ति के लेखक तो स्वयं कुन्तक हैं किन्तु अधिकांश उदाहरण संस्कृत साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों से लिए गये हैं। इनमें कुल चार उन्मेष हैं। प्रथम उन्मेष में काव्य प्रयोजन एवं काव्यलक्षण प्रतिपादित करने के पश्चात् छः प्रकार की वक्रताओं का सामान्य निर्देश किया गया है। द्वितीय उन्मेष में वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता और प्रत्ययवक्रता इन तीन प्रकार की वक्रताओं का विवेचन है। तृतीय उन्मेष में वाक्यवैचित्र्यवक्रता का सुन्दर विवेचन है और उसमें अलंकारों का अन्तर्भाव दिखाया गया है। चतुर्थ उन्मेष में प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का विवेचन किया गया है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन मानकर 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' की स्थापना की है। उनके अनुसार वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन है (वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्)। उन्होंने 'ध्वनि-सिद्धान्त' का खण्डन कर ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत देखा है। इनकी विवेचना-शक्ति मौलिक है। इन्होंने रस, ध्वनि एवं अलंकारों को वक्रोक्ति के अन्तर्गत बिठाने का प्रयास किया है। इन्होंने वक्रोक्ति-सिद्धान्त को व्यापकता का प्रदान कर काव्य-जगत् में एक नवीन मार्ग का प्रवर्त्तन किया है। उनका यह मार्ग 'वक्रोक्तिमार्ग' के नाम से प्रसिद्ध है।

१५—महिमभट्ट (एकादश शताब्दी)

ध्वनि-विरोधी आचार्यों में महिमभट्ट का नाम विशेष उल्लेखनीय है। महिमभट्ट काश्मीर के निवासी थे। इन्हें राजानक की उपाधि मिली थी जो प्रायः काश्मीरी विद्वानों को सम्मानार्थ मिलती रही है। इनके पिता का नाम 'श्रीधैर्य' और गुरु का नाम 'श्यामल' था। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यभाग माना जाता है क्योंकि रुय्यक ने उनके मतों का उल्लेख 'अलंकार-सर्वस्व' में किया है। रुय्यक का समय ११०० ई० के लगभग माना जाता है अतः महिमभट्ट का समय ११ वीं शताब्दी का मध्यभाग माना जा सकता है।

महिमभट्ट की एकमात्र रचना 'व्यक्ति-विवेक' है। इसमें कुल तीन विमर्श है। प्रथम विमर्श में ध्वनि का खण्डन कर अनुमान में उसका अन्तर्भाव दिखाया गया है। द्वितीय विमर्श में 'अनौचित्य' को काव्य का प्रमुख दोषमानकर अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग दोषों पर विचार किया गया है। तृतीय विमर्श में ध्वनि के ४० उदाहरणों का अनुमान में अन्तर्भाव दिखाया गया है।

महिमभट्ट ध्वनि सिद्धान्त के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त को उखाड़ फेंकने के लिए 'व्यक्तिविवेक' की रचना की है। वे ध्वनि के लिए व्यञ्जनावृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं समझते। ध्वनि का वे अनुमान में अन्तर्भाव कर लेते हैं। उनके अनुसार ध्वनि कोई अलग पदार्थ नहीं है बलिक अनुमान का ही एक रूप है। उन्होंने समस्त ध्वनियों को अनुमान में अन्तर्भुक्त करने लिए 'व्यक्तिविवेक' की रचना की है—

अनुमानान्तर्भाव सर्वस्यव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेक कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

महिमभट्ट के अनुसार अभिधा ही एकमात्र शक्ति है। वे शब्द और अर्थ में व्यंग्य-व्यञ्जक भाव नहीं मानते। वे प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) को अनुमेय मानते हैं। वे रस के काव्यात्मा होने का विरोध न कर उसकी अनुभूति अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं।

१६. भोजराज (एकादश शताब्दी)

धारानरेश भोजराज संस्कृत-साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं पर ग्रन्थ-रचना की है। उन पर सरस्वती और लक्ष्मी दोनों की कृपा थी। वे स्वयं उदारचेता, विद्याप्रेमी एवं विद्वानों के आश्रयदाता थे। महाराज भोज का समय उतना विवादास्पद नहीं है जितना अन्य आचार्यों का है। अल्वेरुनी ने 'अल्वेरुनी का भारत' नामक ग्रन्थ में भोज को धारा नगरी का शासक वताया है। अल्वेरुनी १०३० ई० में भारत आया था। इसके अतिरिक्त भोज का एक शिलालेख (दानपत्र) १०२१ ई० का मिलता है। एक दूसरा दानपत्र उनके उत्तराधिकारी जयसिंह का १०५५ ई० का है। इस आधार पर भोजराज का समय १०५० ई० के पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

भोजराज ने अनेक विषयों पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। कहा

जाता। उन्होंने ८४ ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु डा० राघवन् इस पर विश्वास नहीं करते। अलंकारशास्त्र विषयक उनके दो ग्रन्थ हैं—सरस्वतीकण्ठाभरण और शृंगारप्रकाश। ये दोनों ही विशाल ग्रन्थ हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण में कुल पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्यलक्षण, काव्यभेद, १६ पददोष, १६ वाक्य दोष और १६ वाक्यार्थ दोष, २४ शब्दगुण तथा २४ अर्थगुणों का विवेचन है। द्वितीय परिच्छेद में २४ शब्दालंकारों तथा तृतीय में २४ उभयालंकारों का वर्णन है। पञ्चम परिच्छेद में रस, भाव, नायक-नायिकाओं के भेद, सन्धियों एवं वृत्तियों का विवेचन है। इसमें उन्होंने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के लगभग १५०० उद्धरण लिये हैं।

शृंगारप्रकाश इनकी दूसरी रचना है। इसमें मुख्यतः रसों का विशेषकर शृंगार रस का विस्तृत विवेचन है। इसमें कुल ३६ प्रकाश हैं किन्तु अभी तक पूरा ग्रन्थ प्रकाशित न हो सका। इन्होंने शृंगार रस को 'रसराज' कहा है। और शृंगार को ही सब रसों का स्रोत कहा है। भोज का दृष्टिकोण समन्वयात्मक था।

१७. क्षेमेन्द्र (एकादश शताब्दी)

औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य क्षेमेन्द्र अलंकारशास्त्र के प्रमुख आचार्य थे। ये कश्मीर के रहने वाले थे। ये सिन्धु के पौत्र और प्रकाशेन्द्र के पुत्र थे। इनका दूसरा नाम 'व्यासदास' था। ये अभिनवगुप्त के शिष्य थे। ये पहले शैव थे, बाद में वैष्णव धर्म में दीक्षित हो गये। क्षेमेन्द्र ने काश्मीर नरेश अनन्तराज के शासनकाल में 'औचित्य-विचारचर्चा' और 'कविकण्ठाभरण' की रचना थी।

'तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः ॥'

(औचित्यविचारचर्चा)

"राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयंकृतः।"

(कविकण्ठाभरण)

श्री अनन्तराज ने १०२८-१०६३ तक काश्मीर में राज्य किया था। अतः क्षेमेन्द्र का समय इसके आस-पास ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

क्षेमेन्द्र ने विविध विषयों पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें वृहत्कथा मञ्जरी, भारतमंजरी, रामायणमञ्जरी, दशावतारचरित, सुवृत्ततिलक आदि

प्रमुख हैं। काव्यशास्त्र पर इनके दो ग्रन्थ हैं—'औचित्यविचारचर्चा' और 'कवि कण्ठाभरण'। इनका 'कविकण्ठाभरण' काव्यशिक्षा-विषयक ग्रन्थ है। इसमें ५ अध्याय और ५५ करिकाएँ है। इनमें कवित्व-प्राप्ति के उपाय कवि के प्रकार, काव्य के गुण-दोषों का विवेचन है। औचित्यविचारचर्चा' इनका नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादक आलोचनात्मक ग्रन्थ है। इसमें औचित्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इन्होंने 'औचित्य' को रस का सार और काव्य का जीवन माना है—

"औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्"

इनका 'सुवृत्ततिलक' नामक एक छन्दशास्त्र का भी ग्रन्थ हैं जिसमें छन्दों के प्रयोग के विषय पर प्रकाश डाला गया। क्षेमेन्द्र ने औचित्य सिद्धान्त का प्रतिपादन कर आलोचना-सास्त्र में एक नवीन मार्ग का प्रवर्त्तन किया है।

१८—मम्मट (एकादश शताब्दी)

आचार्य मम्मट का अलंकारशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये काश्मीर के निवासी थे। इनको भी 'राजानक' की उपाधि प्राप्त हुई, थी जो प्रायः काश्मीरी विद्वानों को सम्मानार्थ मिलती रही है। मम्मट काश्मीर-निवासी जैयट के पुत्र थे और कैयट के वड़े भाई थे। काश्मीरी पण्डितों के परम्परा के अनुसार मम्मट 'नैषधीयचरित' के रचयिता श्रीहर्ष के मामा थे। किन्तु यह कथन विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता, क्योंकि श्रीहर्ष स्वयं काश्मीरी नहीं थे। आचार्य मम्मट साहित्यशास्त्र के ज्ञाता और व्याकरग के मर्मज्ञ विद्वान् थे।

मम्मट ने अपने ग्रन्थ में अभिनवगुप्त (१०१५ ई०) और 'नवसाहसांक-चरित' (१०१० ई०) का उल्लेख किया हैं। इसके अतिरिक्त दशमोल्लास में उदात्तालंकार के उदाहरण में भोजराज (१०५० ई०) का निर्देश किया है। इससे ज्ञात होता है कि ये अभिनवगुप्त और भोजराज के बाद हुए हैं। हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' में काव्यप्रकाश से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। हेमचन्द का समय १०८८ ई० माना जाता है। अतः मम्मट का समय १०५० से १०७५ ई० के मध्य ११ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

आचार्य मम्मट का प्रमुख ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' है। इनमें १० उल्लास १४२ कारिकाएँ ओर ६०३ उदाहरण हैं। प्रथम उल्लास में काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन,

काव्यलक्षण और काव्यभेद का निरूपण है। द्वितीय उल्लास में शब्दशक्तियों का और तृतीय में शाब्दी-व्यंजना का विवेचन किया गया है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनि के भेद, रस, भाव आदि का विवेचन है। पंचम उल्लास में गुणीभूत-व्यंग्य और व्यंजना का निरूपण है। षष्ठ में चित्रकाव्य और सप्तम में दोषों का वर्णन है। अष्टम उल्लास में गुणों का विवेचन है। नवम और दशम उल्लास में शब्दालंकार और अर्थालंकारों का विवेचन है। इसके अतिरिक्त मम्मट का एक ग्रंथ 'शब्दव्यापारविचार' भी मिलता है जिसमे शब्दवृत्तियों पर विस्तृत विचार किया गया है।

काव्यप्रकाश सूत्रात्मक शैली में लिखा गया काव्यशास्त्र का अनुपम ग्रंथ है। इस पर ७० टीकाएँ मिलती हैं। कहा जाता है कि मम्मट ने 'परिकर' अलंकार तक ही काव्यप्रकाश की रचना की थी और शेष भाग को अल्लट ने पूरा किया था। काव्यप्रकाश में कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन भाग हैं। इनमें कारिका और वृत्ति का लेखक मम्मट है और उदाहरण अन्य ग्रथों से लिए गए हैं। मम्मट ने काव्यप्रकाश की रचना कर काव्य-जगत में खूब प्रतिष्ठा प्राप्त की। ये ध्वनिवादी आचार्यों में सर्वश्रेष्ठ आचार्य माने जाते हैं। भीमसेन ने इन्हें 'वाग्देवतावतार' की उपाधि से विभूषित किया हैं। मम्मट समन्वय-वादी आचार्य थे। मम्मट की कतिपय नवीन उद्भावनाएँ भी हैं—

१. सूत्रात्मक शैली में विविध विषयों का समावेश।
२. ध्वनि-सिद्धान्त को सुप्रतिष्ठित करना।
३. त्रिगुणवाद की स्थापना।
४. रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में मौलिक विचार।
५. गुण और अलंकारों में परस्पर भेद-प्रदर्शन।

१९—रुय्यक (द्वादश शताब्दी)

रुय्यक काश्मीर निवासी राजानक तिलक के पुत्र थे। इन्हें भी 'राजानक' की उपाधि मिली थी। इनका दूसरा नाम 'रुचक' था। रुय्यक श्रीकण्ठचरित के रचयिता मंखक के गुरु थे। रुय्यक ने काव्यप्रकाश पर 'काव्यप्रकाश संकेत नामक टीका लिखी है। अतः ये मम्मट के बाद हुए हैं। रुय्यक का शिष्य मंखक था और मंखक काश्मीर नरेश जयसिंह का मन्त्री था। जयसिंह का समय ११२८-११४९ ई० माना जाता है। अतः रुय्यक का समय बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

रुय्यक ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इन्होंने उद्‌भट के ग्रन्थ पर 'उद्‌भट-विवेक' नामक टीका लिखी है और काव्यप्रकाश पर 'काव्यप्रकाशसंकेत नामक टीका लिखी है। 'अलंकारसर्वस्व' इनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। यह इनकी मौलिक कृति है। इसमें कुल ८६ सूत्र हैं। इन्होंने ७५ अर्थालंकारों और ६ शब्दालंकारों का विवेचन किया है। जिनमें परिणाम, उल्लेख, विचित्र और विकल्प जैसे नवीन अलंकारों की कल्पना इनकी मौलिक है। इस ग्रंथ के दो तीन भाग हैं—सूत्र, और वृत्ति और उदाहरण। इनमें सूत्र और वृत्ति दोनों के लेखक रुय्यक हैं। इनके ऊपर दो प्रमुख टीकाएँ हैं—जयरथकृत 'अलंकार विमर्शिणी' और समुद्रबन्ध की टीका। इसकी लोकप्रियता इससे सिद्ध हैं कि विश्वनाथ, जगन्नाथ, अप्पयदीक्षित जैसे विद्वानों ने इनके मत को उद्धृत किया है।

'अलंकार सर्वस्व' के अतिरिक्त रुय्यक के निम्नलिखित ग्रंथ हैं—

१. सहृदय लीला (यह एक लघुकाय ग्रन्थ है)
२. साहित्य मीमांसा (इसमें प्रकीर्ण विषय हैं)
३. नाटक मीमांसा (नाटक पर विचार)
४. अलंकारानुसारिणी (जयरथ के अनुसार यह अलंकारों पर स्वतन्त्र ग्रंथ है)
५. हर्षचरित वर्त्तिक
६. व्यक्तिविवेक विचार (महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक की टीका)
७. काव्यप्रकाश संकेत (मम्मट के काव्यप्रकाश की टीका)
८. उद्‌भट विवेक (उद्‌भट के ग्रन्थ की टीका)

२०—पीयूषवर्ष जयदेव (१३ वीं शताब्दी)

पीयूषवर्ष जयदेव मिथिला निवासी थे। ये राजा लक्ष्मणसेन के सभा-पण्डित थे। इनके पिता का नाम महादेव था। इनको 'पीयूषवर्ष' की उपाधि मिलीं थी। ये गीतगोविन्दकार जयदेव से तो भिन्न थे, किन्तु प्रसन्नराघव के प्रणेता जयदेव से अभिन्न थे। ये न्याय के प्रसिद्ध विद्वान् थे। जयदेव के कुछ श्लोक शार्ङ्गधर-पद्धति में उद्धृत हैं शार्ङ्गधर-पद्धति का रचना-काल १३६३ ई० है अतः जयदेव इससे पूर्व रहे होंगे। जयदेव रुय्यक से परिचित था, क्योंकि उसने रुय्यक के 'विचित्र' और विकल्प' नामक अलंकारों को ज्यों का त्यों

उद्धृत किया है अतः जयदेश का समय १३ वीं शताब्दी का मध्यभाग माना जा सकता है।

जयदेव का 'चन्द्रालोक' अलंकारशास्त्र का लोकप्रिय ग्रन्थ है। यह ग्रंथ १० मयूखों में विभाजित है। जिसमें ३५०, श्लोक हैं। इसमें काव्यशास्त्र के समस्त विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ की निरूपण-शैली अनुपम हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें एक ही श्लोक से पूर्वार्द्ध में अलंकार का लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस अलंकार प्रकरण को अप्पयदीक्षित ने 'कुवलयानन्द' नामक ग्रंथ की रचना की है। जयदेव अलंकार-सम्प्रदाय के पोषक आचार्य थे। इनका कहना है कि जो अलंकार-रहित काव्य को काव्य मानते हैं वे अग्नि को शीतल क्यों नहीं मानते—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

जयदेव ने लगभग १०० अलंकारों का निरूपण किया है। इनकी शैली सुगम एवं भाषा प्रभावमयी है। इस ग्रन्थ पर लगभग छः टीकाएँ लिखी गई हैं। जिनमें 'शरदागम' नामक टीका प्रमुख है।

२१—विश्वनाथ कविराज (१४ वीं शताब्दी)

अलंकारशास्त्र के इतिहास में विश्वनाथ कविराज का स्थान अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है। उत्कल प्रदेश के एक विद्वान् ब्राह्मण परिवार में इनका जन्म हुआ था। इनके वृद्धप्रमितामह नारायण पण्डित बहुत बड़े विद्वान थे। इनके पिता चन्द्रशेखर विद्वान् एवं सन्धिविग्रहिक थे। उन्होंने अपने पिता के दो ग्रन्थों 'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव' का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है।

विश्वनाथ का समय १४ वीं शताब्दी माना जाता है। इनके 'साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित प्राति प्राप्त हुई है। जिसकी लेखन तिथि विक्रमी सम्वत् १४४० और १३८४ ई० सन् है। अतः विश्वनाथ का समय इसके पूर्व होना चाहिए। साहित्यदर्पण के एक श्लोक में 'अलाउद्दीन का उल्लेख है—

"अलावद्दीननृपतौ न सन्धिर्ण च विग्रहः।"

अलाउद्दीन का शासनकाल १२९६-१३१३ ई० माना जाता है अतः विश्वनाथ का समय १३०० ई० १३६० ई० के मध्य अर्थात् १४ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

विश्नाथ कविराज की निम्नलिखिन रचनाएँ हैं—

१. राघवविलास (संस्कृत का महाकाव्य है)
२. कुवलयाश्वचरित (प्राकृतभाषा का काव्य)
५. चन्द्रकला नाटिका (यह नाटिका है)
४. प्रभावती परिणय (यह भी नाटिका है)
५. प्रशस्तिरत्नावली (यह १६ भाषाओं में ग्रथित करम्भक है)

विश्वनाथ की सबसे प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय रचना 'साहित्य-दर्पण' है। इस ग्रंथ को सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार के काव्यभेदों का निरूपण किया है। इसके तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। इसमें कुल १० परिच्छेद हैं। काव्यशास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है। साहित्यदर्पण की कुछ प्रमुख विशेषताएँ भी हैं—

१. प्रारम्भ में पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के काव्य लक्षणों का खण्डन कर 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' यह काव्यलक्षण के रूप में स्थापित करना।
२. षष्ठ परिच्छेद में दृश्यकाव्य सम्बन्धी सभी विषयों का समावेश।
३. सरल, सुबोध एवं प्रसादमयी भाषा में विषय-विवेचन।
४. नायक-नायिका-भेद तथा नाटयकला का विस्तार विवेचन।

२२—अप्पयदीक्षित (१६ वीं शताब्दी)

अप्पयदीक्षित दक्षिण के रहने वाले शैवदर्शन के आचार्य थे। रंगराजाध्वरि के पुत्र थे। इनके आश्रयदाता का नाम 'वेङ्कटपति' था। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। इन्होंने लगभग १०० ग्रन्थों की रचना की थी। कहा जाता है कि विजयनगर के राजा वेंङ्कट प्रथम की प्रेरणा पर अप्पयदीक्षित ने 'कुवलयानन्द' की रचना की थी। वेङ्कट प्रथम का समय शिलालेख १५८३ शाके १६०१ ई० है। अतः अप्पयदीक्षित का समय १६ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

अप्पयदीक्षित के अलंकारशास्त्र पर तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) कुवलयानन्द (२) चित्रमीमांसा और (६) वृत्तवार्त्तिक। इनमें 'कुवलयानन्द' इनका सर्वोत्तम ग्रन्थ हैं। इसमें दीक्षितजी ने चन्द्रालोक से कारिकाएँ लेकर अलंकारों का निरूपण किया है। कारिकाएँ तो इन्होंने चन्द्रालोक से ली हैं किन्तु गद्यांश इनकी स्वयं की कृति है। चन्द्रालोक में १०० अलंकार वर्णित हैं। इनमें उन्होंने

संस्कृत साहित्य के श्रेष्ठ प्रकाशन
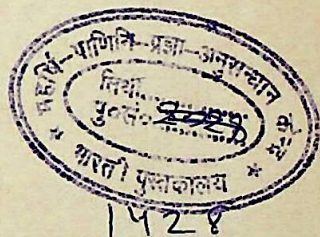
पुस्तक	लेखक
संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास	डा० राजकिशोरसिंह
संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डा० बाबूराम त्रिपाठी
संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियाँ	डा० जयकिशन प्रसाद
संस्कृत नाट्य साहित्य	डा० जयकिशनप्रसाद
प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति	डा० राजकिशोरसिंह
भारतीय संस्कृति	,,
संस्कृत भाषा-विज्ञान	,,
संस्कृत व्याकरणम्	डा० बाबूराम त्रिपाठी
भारतीय दर्शन	डा० आचार्य एवं त्रिपाठी
ऋक् सूक्त समुच्चय	डा० रामकृष्ण आचार्य
संस्कृत वाङ्मय : मौखिकी	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
संस्कृत साहित्य का इतिहास	डा० द्वारिकाप्रसाद
ध्वन्यालोक: एक अध्ययन	डा० पारसनाथ द्विवेदी
साहित्य दर्पण : एक अध्ययन	,,
कालिदास और अभिज्ञान शाकुन्तलम्	डा० जयकिशनप्रसाद
कालिदास और मेघदूत	,,
कादम्बरी कथामुखम्	कृष्णअवतार वाजपेयी
लघु सिद्धान्त कौमुदी	डा० रामकृष्ण आचार्य
काव्य दीपिका [अष्टम शिखा]	,,
किरातार्जुनीयम् [सर्ग १]	वेणीमाधव शास्त्री मुसलगांवकर
किरातार्जुनीयम् [सर्ग २]	,,
संस्कृत गद्य रत्नाकर	रामकिशोर शर्मा
भरतमुनि प्रणीतम्— नाट्यशास्त्रम् (प्रथम एवं द्वितीय अध्याय)	डा० पारसनाथ द्विवेदी

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा—२